अनुक्रम

भूमिका • vii

खण्ड-क : हिन्दी कविता का समकालीन प्रमेय

अपने युग से संवाद करती अज्ञेय की कविता • 1

जिंदगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही : मुक्तिबोध की कविता • 12

बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ • 21

चिन्तन के धरातल पर कुँवरनारायण और सीताकांत की कविताएँ • 31

सामाजिक हलचलों के बीच समकालीन हिन्दी कविता • 38

समकालीन कविता में पर्यावरण-चेतना • 48

समय के आर-पार के कवि • 58

शहर के सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूँ • 66

बहुमुखी जीवन की बहुआयामी कविताएँ • 70

हमें अपने साथियों को बचाना है डूबते जहाज से • 78

हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य और जितेन्द्र श्रीवास्तव का कवि-कर्म • 91

समकालीन कविता में समय और समाज • 118

सबसे खतरनाक है आदमी का चेहरा खत्म कर देना • 133

अनुक्रम

भूमिका • vii

खण्ड-क : हिन्दी कविता का समकालीन प्रमेय

अपने युग से संवाद करती अज्ञेय की कविता • 1
जिंदगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही : मुक्तिबोध की कविता • 12
बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ • 21
चिन्तन के धरातल पर कुँवरनारायण और सीताकांत की कविताएँ • 31
सामाजिक हलचलों के बीच समकालीन हिन्दी कविता • 38
समकालीन कविता में पर्यावरण-चेतना • 48
समय के आर-पार के कवि • 58
शहर के सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूँ • 66
बहुमुखी जीवन की बहुआयामी कविताएँ • 70
हमें अपने साथियों को बचाना है डूबते जहाज से • 78
हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य और जितेन्द्र श्रीवास्तव का कवि-कर्म • 91
समकालीन कविता में समय और समाज • 118
सबसे खतरनाक है आदमी का चेहरा खत्म कर देना • 133

सत्य वही है जिसका हम आविष्कार करें • 13

मर-मर कर जीती है घास • 14

समकालीन कविता के युवा स्वर • 14

खण्ड-ख : बांग्ला तथा ओड़िया कविता का समकालीन प्रमेय

विश्व मानव चेतना और रवींद्रनाथ • 15

हाशिये की नारी : उत्तर औपनिवेशिक बांग्ला कवयित्रियों के संदर्भ में • 16

ओड़िया दलित कविता : स्रोत, परंपरा और प्रतिरोध चेतना • 175

□□□

अपने युग से संवाद करती अज्ञेय की कविता

P.M.S. MAHAVIDYALAYA
CALL NO.
ACC. NO. 12843
DATE/BILL 278/25.01.16.

"यह जो मिट्टी गोड़ता है, कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उसकी मैं साधना हूँ।
वह जो मिट्टी फोड़ता है, मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है
उसकी मैं आस्था हूँ।
यह जो नंगे बदन, दम साध, पानी में उतरता है
और बाज़ार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है,
यह जो कलम घिसता है, चाकरी करता है पर सरकार को चलाता है
उसकी मैं व्यथा हूँ।"

—मैं वहाँ हूँ, सदानीरा-1 अज्ञेय, पृ. 270

"लेखक होने से मुझे सामाजिक उत्तरदायित्व से छुट्टी नहीं मिल जाती है क्योंकि लेखक हो जाने पर ऐसा नहीं है कि मैं नागरिक नहीं रहता। दूसरी ओर, कवि होने का अर्थ भी नहीं है कि मैं अपनी कविता के लिए भी समाज के प्रति उत्तरदायित्व मानने को बाध्य हूँ।"

—कविमन-अज्ञेय, पृ. 36

"मैं अज्ञेयपंथी नहीं, अज्ञेय-विरोधी भी नहीं, पर अज्ञेय का तटस्थ आलोचक बनूँ यह भावहीनता भी अपने में नहीं ला सकता।" **—अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, पृ. 5**

अज्ञेय व्यापक संवेदना के कवि हैं। उनकी कविताओं की रेंज विस्तृत है। इस अर्थ में वे विराट फलक के कवि हैं। जीवन और जगत् के वृहत्तर संदर्भों में संपृक्त उनकी कविताओं से गुजरने के वाद अज्ञेय को व्यक्तिवादी, अहंवादी, प्रयोगवादी कवि के तंग घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। उनका रचना-संसार बहुआयामी है; वैविध्यपूर्ण भी। उनकी काव्य-संवेदना गहरी है और पैनी भी। पर, सवाल यह कि क्या अज्ञेय प्रगतिशील परंपरा के कवि नहीं थे? यदि थे, तो उनकी कविताओं में प्रगतिशीलता का कौन-सा स्वरूप उभरता है? पुनः उनमें सामाजिक सरोकार किस रूप में अभिव्यंजित हुआ है? अथवा, अज्ञेय की कविताओं में सामाजिक सरोकार से संबंधित चिंता है भी? यदि है तो उन पर असामाजिक होने का आक्षेप क्यों लगता है? दरअसल, अज्ञेय कभी भी अपने समाज से विमुख नहीं रहे। हाँ, यह

सच है कि वे भीतर के व्यक्ति से भी विमुख नहीं हैं। इस संदर्भ में उनका कथन है— फिर कहता हूँ, मैं नागरिक भी हूँ, कवि भी हूँ, हर समय दोनों में से कोई-सा भी अधि मैं छोड़ना नहीं चाहता। लेकिन आप से मेरा निवेदन यह है कि दोनों में जिसे भी आप खरी या बरगलाना चाहते हैं, वह मैं तब नहीं हूँ।"

—भवंती, द्वितीय संस्करण, पृ.

ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि अज्ञेय समाज-विमुख थे। लोक-कल्याण को प्राथमि देनेवाला कवि समाज-विमुख नहीं होता है। सृजनधर्मिता से आत्म-सुख मिलता है। आत्म-सुख केवल स्रष्टा को ही नहीं उसकी सृष्टि से परिचित अन्य लोगों को भी प्राप्त हो है। सृजन वैयक्तिक जरूर होता है लेकिन यह व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता।

अज्ञेय क्रांतिकारी थे। इनका क्रांतिकारी जीवन 1929 से 1936 तक व्याप्त था। भग सिंह को कारागार से छुड़ाने का कार्यक्रम हो अथवा बम बनाने का कारखाना कायम करन अमृतसर से पिस्तौलों की मरम्मत और कारतूस भरने का कारखाना शुरू करना हो या अमृतस या दिल्ली के कारागार में सजा भुगतना, लाहौर में नज़रबन्द रहना आदि अज्ञेय की क्रांतिकारित के निदर्शन है। अत: स्वाभाविक है कि उनके अंदर का विद्रोह उनकी रचनाओं में फूटे, कभ मौन विरोध के रूप में तो कभी आत्मपीड़न के रूप में अथवा कभी मुखर बनकर। विद्रोह और विरोध इसलिए कि कवि को अपनी चिंता न थी, वह समाज की चिंता से उद्वेलित था ऐसे में भला कवि समाज से कैसे असंपृक्त रह सकता है? अपने काल की कैसे उपेक्षा क सकता है? अपने देश की स्थितियों से अनभिज्ञ बने हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठे रह सकता है?

अज्ञेय के लिए राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है। उस राष्ट्र के प्रति अज्ञेय ने सदा प्रतिबद्धता दिखाई है। जनतांत्रिक विफल व्यवस्था के वे प्रबल पक्षधर होने के नाते उसके प्रति अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हैं। जहाँ कहीं भी शासन तंत्र साबित होता है उसकी आलोचना करते हैं। मानवीय समस्याओं के प्रति गहरी संवेदना जताते हैं, क्योंकि वे 'नागरिक के कर्त्तव्य' को समझते हैं।

अज्ञेय प्रगतिशील थे, प्रगतिवादी नहीं। उन्हें न वर्जनाएँ पसंद थीं और न रूढ़ियाँ। यह नापसंदगी उनके जीवन में थी और सृजन में भी। लीक पर चलना उन्हें कभी पसंद न था। प्रगतिवादी कवियों के हल्ला-बोल का उन्होंने अपने ढंग से जवाब दिया। लेकिन वे कभी प्रगतिविरोधी न थे। उन्होंने काव्य-जगत् को एक नया साँचा दिया है। अज्ञेय की तमाम कविताएँ हैं जहाँ वे अपने युग से संवाद करते दिखाई पड़ते हैं। अज्ञेययुगीन समस्याएँ जब आज भी उसी प्रकार या उससे भी भयानक रूप धारण करके हमारे समक्ष खड़ी हो जाती हैं तब अज्ञेय की उन रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञेय समूचे काल को संबोधित करने वाले अनन्य कवि हैं। इस संबोधन में गाँव, कस्बा, नगर, महानगर, पेड़-पौधे, मनुष्य, लता-गुल्म, पशु-पक्षी, प्रकृति का कण-कण सब कुछ विद्यमान है। कवि की संवेदना की व्याप्ति

चहुँ ओर है। यदि मार्क्सवादी 'यह आज़ादी झूठी है' का नारा देते हैं तो अज्ञेय भला भारत को प्राप्त आजादी से कहाँ प्रसन्न थे? 'आजादी के बीस बरस' शीर्षक कविता में अज्ञेय ने 1967-68 के भारत की तस्वीर पेश की है। प्रश्नाकुल कवि मन ने आजादी के बीस बरस के मौके पर स्पष्ट सवाल किया है—

'उन्नीस नंगे शब्द?
अठारह लचर आंदोलन?
सत्रह फटीचर कवि?
सोलह लुंजी—हाँ, कह लो, कलाएँ—
(पर चोरी, चापलूसी,
सेंध मारना, जुआखोरी,
लल्लोपत्तों और लबारियत
ये सब पारंपरिक कलाएँ थीं
आज़ादी के बीस बरस क्यों, बीस पीढ़ी पहले की!)
आज़ादी के बीस बरस से
बीस बरस की आज़ादी से
तुम्हें कुछ नहीं मिला;
मिली सिर्फ आज़ादी!''

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 185-86

1968 के स्वाधीनता दिवस के अवसर पर कवि अज्ञेय ने दलितों, उपेक्षितों व निष्पेसितों की मूक-व्यथा को उजागर किया है। 'लंबी भूख' की ज्वाला से पीड़ित हैं। व्यक्ति यानी भूखा कुछ भी कर सकता है। कुछ भी खा सकता है 'वुभुक्षितं किं न करोति पापम्।' 'क्योंकि मैं' कविता में कवि के शब्द हैं—

''क्योंकि मैं,
उसे जानता हूँ
जिसने पेड़ के पत्ते खाये हैं,
और जो उसकी जड़ की लकड़ी भी खा सकता है
क्योंकि उसे जीवन की प्यास है।'

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 216

उस कविता में ही कवि ने प्रताड़ित को, 'कोड़ा खाने वाले को' अपना भाई कहा है। वह इस 'अपनत्व' का प्रसार करते हुए अपना विरोध प्रदर्शित करता है—

''मैं उस कोड़े को छीनकर तोड़ दूँगा।
मैं इनसान हूँ और इनसान वह अपमान नहीं सहता।''

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 217

इंसान और इंसान के बीच की खाई गहरी होती जा रही है। फलस्वरूप, शांतिपूर्ण सहावस्थान, मैत्री भाव, सौहार्द, सह-अस्तित्व आदि बाधित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में मानवता कराहने लगती है, छटपटाने लगती है। भाँति-भाँति की विसंगतियाँ जड़ जमाने लगती हैं। विडंबनाएँ फलने-फूलने में कोई कसर नहीं छोड़तीं। जाति, धर्म, वर्ण, नस्ल, सामाजिक-आर्थिक स्तरों में मनुष्य बँटने लगता है। कमजोरों पर ताकतवर हावी होता है। धनवान निर्धनों का शोषण करता है। अज्ञेय के कवि हृदय ने ऐसी प्रतिकूल स्थितियों का सामना किया था। इससे वे व्यथित तो हुए ही, पीड़ितों और अवहेलितों का साथ भी दिया। सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने शोषकों को ललकारा है, मानवता विरोधी ताकतों की खबर भी ली है—

"तुम, जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दुकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जल-दान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 145

इसी प्रकार कवि ने शोषकों पर व्यंग्य करते हुए शोषक समाज के प्रति विरोध प्रदर्शित किया है। प्रताड़ित मनुष्य की व्यथा-कथा के साथ-साथ कवि का विरोध 'शोषक भैया' शीर्षक कविता से स्पष्ट हो जाता है। जाहिर है कि कवि शोषक समाज के साथ नहीं है। उसकी पूरी प्रतिबद्धता पीड़ितों के प्रति है। यह कवि-कर्त्तव्य है और मनुष्योचित कर्म भी। अज्ञेय ने लिखा है—

"डरो मत, शोषक भैया : मेरा रक्त ताजा है,
मेरी लहर भी ताजा और शक्तिशाली है।
ताजा, जैसे भट्ठी से ढलते गले इस्पात की धार,
शक्तिशाली, जैसे तिसूल : और पानीदार।
पी लो, शोषक भैया : डरो मत।
मुझसे क्या डरना?
वह मैं नहीं, वह तो तुम्हारा-मेरा संबंध है जो तुम्हारा काल है।
शोषक भैया!"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 259-60

कवि का समाज तमाम बीमारियों से ग्रसित है। इनमें से जातिप्रथा की बीमारी सर्वाधिक कष्ट पहुँचा रही है। आज भी जाति-बंधन से देश जकड़ा हुआ है। सारी मुसीबतों की जड़ जातिवादी व्यवस्था है। जाति के आधार पर मनुष्य बँट रहा है। जाति के आधार पर राजनीतिक समीकरण बन रहे हैं। जाति के आधार पर सत्ता को हथियाने की कोशिश भी जारी है। इस जातिप्रथा के दुष्परिणामों को लेकर अज्ञेय ने 1968 में एक कविता लिखी थी

'अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्'। इसमें कवि की अंतःपीड़ा व्यंजित हुई है। वह खिन्न होता है। ब्राह्मण, कायस्थ, बनिया, अहीर आदि जातियों पर व्यंग्य करते हैं अज्ञेय। उनकी चालाकियों को उज्जीवित करते हैं। देश की अधोगति के मूल में जातिगत संकीर्णता पर प्रकाश डालते हैं। प्रतीत होता है कि अज्ञेय चाहते थे एक जातिविहीन समाज की प्रतिष्ठा हो। जाति हो भी तो सिर्फ मानव-जाति हो। जातिवाद की संकीर्ण मानसिकता से मनुष्य मुक्त हो। जातिवादी सोच ने राष्ट्र को तथा मनुष्य जाति को क्षति पहुँचाई है। कवि के शब्दों में—

"देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री,
मौलवी, कायस्थ, मसीही, जाटव, सरदार, भूमिहार, अहीर
और वे सारे घेरे के बाहर के बेचारे
जो नहीं पहचानते अपनी तकदीर;
तू किस-किस को रोयेगा?"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 205

भारतीय समाज-व्यवस्था में इस जातिवादी सोच ने देश को लुंज-पुंज कर दिया है। यहाँ कवि ने आत्मबोध को भी स्थापित करने का आग्रह किया है।

कोई भी महत्त्वपूर्ण कवि अपने देश-काल से अलग नहीं रहता है। अज्ञेय भी न थे। उनकी कविताओं में देश की परिस्थितियाँ जुड़ी हुई हैं। गाँधीजी ने कहा था भारत गाँव में बसता है। ऐसा अज्ञेय भी मानते हैं। भारत की आत्मा गाँवों में है। घास-फूस की झोपड़ी में रहनेवाले 'गँवारू' लोगों में अज्ञेय जीवन की गतिशीलता देखते हैं। उनके ढोल-मादल-बाँसुरी की मधुर ध्वनि में जीवन का उल्लास ढूँढ़ लेते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में मशीनी सभ्यता इनकी भले उपेक्षा करती रहे, इनके मर्म को न समझे लेकिन कवि-प्राण इस नैसर्गिक भारत में निवास करता है। 1949 के आस-पास अज्ञेय ने भारतीय संस्कृति को लील लेने के लिए तुली हुई यंत्र-सभ्यता की 'लोलुप दृष्टि' से परिचित किया था। भारतीय ग्रामीण जन-जीवन की दुर्दशा की ओर इसारा किया था—

"इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर"

भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की आँधी ने न गाँव को गाँव रहने दिया और न मनुष्य को मनुष्य। अज्ञेय ने इस संकट को बहुत पहले देख लिया था। उद्योग के नाम पर पल-पल मानव-जीवन को छला जा रहा था। उसकी आशाएँ छली जा रही थीं। कवि इससे संतप्त है। औद्योगिक क्षेत्रों की कारगुजारियों से खिन्न है। वह अपना प्रतिरोध दर्ज करता है—

"भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकारों की दुःसाध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती हैं।...
उद्यम की कड़ी-कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उसको छलती जाती हैं।"

—सदानीरा, भाग-2, पृ.

'देश की कहानी दादी की ज़बानी' शीर्षक कविता में प्राचीन भारत से लेकर स्वातंत्र्यो भारत का इतिहास दर्ज़ है। इस कविता में भी अज्ञेय ने भारतीय राजनीति के छल-छद्म उघाड़ा है। एक बड़े सुंदर देश को गंदगियों से भर दिया गया है। तीक्ष्ण व्यंग्य की मार से क कहता है—

"अब धर्म-निरपेक्ष
भारतीय लोकतंत्र हुआ है;
अब बची सुंदर जगहों को
स्मारक संग्रहालय बनाया जा रहा है।"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 22

'सुंदर जगह' न बच पाई है। स्मारकों, संग्रहालयों के नाम पर करोड़ों लुटाये जा हैं। 'अजायबघर मृत होता है, स्मृतियाँ बची रहती हैं। जीवित उपेक्षित रह जाते हैं। पंत भी 'ताज' शीर्षक कविता में ऐसी चिंता प्रकट की है।

चिर आकांक्षित आजादी मिली। पर, वह आज़ादी आम आदमी की आशाओं को पू नहीं कर पाई। देश में सुविधाभोगी वर्ग का वर्चस्व रहा। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में आ 'पछाड़ी भैंस' सब कुछ 'जुगाली कर रही है।' देश के कर्णधारों के रुपये विदेशी खातों जमा हो रहे हैं अत्यंत गुप्त रूप से। अज्ञेय की कविता 'जनपथ-राजपथ' की कुछ पंक्तिय दृष्टव्य हैं—

"राष्ट्रीय राजमार्ग, प्रादेशिक पशु;
योजना आयोग वाले करें तो क्या करें?
बिचारे उगाते हैं
आयातित रासायनिक खाद से
अंतर्राष्ट्रीय करमकल्ले।"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 213

इस प्रकार 'देसी मिजाज' से भरपूर एक अन्य कविता है 'केले का पेड़'। इसमें भी भारतीय मानसिकता तेज-मंथर गति से स्पष्ट होती है। 'केले का पेड़' भारतवासियों का प्रतीक बनकर आता है। उसका सबकुछ काम में आता है। फल, फूल, घौद, मोचा, डंठल, जड़ आदि खाये जाते हैं। पत्ते पत्तल के रूप में उपयोगी। भारत भी एक ऐसा देश है जिसका फल सब ने खाया। इसने अपने को इस्तेमाल होने दिया। निरीह बना रहा परंतु उस निरीहता

का फल सबने भोगा। यह सिर्फ इसलिए कि केले का पेड़ कमजोर होता है। रीढ़विहीन भी और ऐसा है भारतीय लोकतंत्र भी। चूँकि कविता 'भारतवासी' को संबोधित है अतः भारतवासियों से कवि की अपेक्षाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। उपर्युक्त तमाम कविताओं के साथ उक्त कविता की मूल संवेदना को जोड़ा जाए तो अज्ञेय को व्यक्तिवादी, अंतश्चेतनवादी, अहंवादी आदि सिद्ध करने वालों के तर्क बेतुके साबित हो जाते हैं। बहरहाल, 'केले का पेड़' की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"ओ केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान ने तुझे रीढ़ दी
कि कभी तो तू अपने भी काम आता—
चाहे तुझे कोई न भी खाता—
न सेठ, न संन्यासी, न डाँगर-पशु—
चाहे तुझे बाँधकर तुझ पर न भी भँसाता
हर समय मृत आशा-शिशु?
तू एक बार तन कर खड़ा तो होता
मेरे लुजलुज भारतवासी।"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 223-24

अज्ञेय ने अपने समय में महसूस किया था कि मानवीय संबंध दरकने लगे हैं। सामाजिक रिश्तों में बदलाव आ रहा है। मानसिकता भी बदल रही है। मानव-मूल्यों के स्थान पर पूँजी हावी होने लगी है जो स्वार्थ की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे रही है। अज्ञेय ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के माध्यम से इन बदलते रिश्तों को रूपायित किया है। यहाँ कवि की पक्षधरता है, उनके प्रति स्पष्ट हैं जो परती तोड़ते हैं। अपने अनथक परिश्रम से जिन्होंने अपने लहू से देवताओं की धरती को सींचा था। आज उन प्रभुओं के कुक्कुट, बकरे, भैंसें उस परती पर पल रहे हैं। शताब्दियों से पददलित, निर्यातित, अवहेलित लोगों की मूकता को वाणी प्रदान करते हुए अज्ञेय नब्बे के दशक में लिखते हैं—

"न हमें पशुओं-सा मरना मिला,
न हमें प्रभुओं-सा जीना
न मिला देवताओं-सा अमरता में
सोम-रस पीना!"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 365

भला यह कैसे हो सकता है कि लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन आयोजित हो और अज्ञेय की कविताओं में उसका असर न दिखे। 1936 में अज्ञेय की एक कविता प्रकाशित होती है 'अखंड ज्योति' शीर्षक से। यह अखण्ड ज्योति न तो आध्यात्मिक जगत् की है और न ही इसका व्यापार करने वाले राजनेताओं से यह संबंधित है। यह भारतीयों के हृदय से फूटकर निकलने वाली और कोना-कोना दीप्त करने वाली ज्योति है। भारत एक भव्य दीपक है जो जगती को आलोकित करने का माद्दा रखता है। ऐसा कवि का विश्वास है। कवि कहता है—

"हमें दु:ख है, हमें क्लेश है—उसे जला डालेगी ज्वाला,
पद-दलितों के उर से उठकर सारा नभ छा लेगी ज्वाला।
हमने न्याय नहीं पाया है, हम ज्वाला से न्याय करेंगे—
धर्म हमारा नष्ट हो गया,
अग्नि-धर्म हम हृदय धरेंगे!"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 1

यह है कवि की सामाजिक कर्त्तव्य-निष्ठा। 'सदानीरा' के दोनों भागों में इस प्रकार ऐसे भावबोध की अनेक कविताएँ मिल जाती हैं जहाँ कवि का समाजबोध खुलकर सा आया है। आश्चर्य है कि हिन्दी आलोचना ने ऐसी कविताओं का जिक्र तक नहीं किया इसने 'असाध्य वीणा', 'नदी के द्वीप', 'कतकी पूनो', 'बावरा अहेरी', 'हरी घास पर क्ष भर', 'यह दीप अकेला', 'सोन मछली', 'क्योंकि मैं', 'नंदादेवी' जैसी आठ-दस कविता में ही अज्ञेय को सिमटकर रख दिया है और अपने ढंग से मान्यता दे दी। ऊपर से दुरूह अं बोझिल भाषा में लिखने वाले कवि के रूप में भी अज्ञेय के रचना-संसार से दूरी बरतने व हिदायत भी दे दी। अज्ञेय के जीवन-काल में जो निराधार आक्षेप लगाये गये थे, वे आज त जारी हैं। 'रक्त स्नात वह मेरी साकी' कविता पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है त नये सिरे से पाठ करने की माँग करती है। दुखिया भारतमाता को रक्तस्नात साकी के रू में प्रस्तुत करते हुए कवि ने बिल्कुल नवीन बिंब पेश किया है—

"मैंने देखा, वहाँ करोड़ों भभकों में फिर उफन-उफनकर
भस्मीभूत अस्थियों के अनगिन स्तर की छननी में छनकर
एक मनमोहक उन्मादक झिलमिल निर्झर रूप ग्रहणकर
वही रक्त बढ़ता आता था मेरी मोहन मदिरा बनकर!"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 17

यह सच है कि कवि 'पराजय-गान' भी लिखता है। वह स्वीकार करता है कि 'मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने में प्रत्यंचा टूट गई है।' वह शोषकों को ललकारता भी है और पराजयबोध से ग्रसित भी है। यह द्वन्द्वात्मकता कवि की सामर्थ्य है, कमजोरी नहीं। आगे चलकर कवि का दृढ़ संकल्प रूपायित हुआ है—

"पर डरो मत, मैं मरूँगा नहीं
क्योंकि मैं अधूरा नहीं मरूँगा, अतृप्त नहीं मरूँगा।"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 285

अज्ञेय ने आम आदमी की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर उनके प्रति संवेदनशील होकर कविता लिखी है। जो आलोचक अज्ञेय को यथार्थवादी लेखक नहीं मानते हैं उन्हें 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की कविता 'बांगर और खादर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ लेनी चाहिए। उल्लेख किया जा सकता है कि इस कविता में कवि ने राजाजी के कुएँ का चित्रण

किया है और गाँव से बाहर खादर का भी। कुएँ का पानी 'ठाकुर का कुआँ' की तरह है जो आमजनों के लिए नसीब नहीं होता। वे पूर्णतया निर्भर करते हैं सदानीरा नदी पर—

"कुएँ का पानी
राजाजी मँगाते हैं
शौक से पीते हैं।
नदी पर लोग सब जाते हैं,
उसके किनारे मरते हैं
उसके सहारे जीते हैं।"

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 60

अज्ञेय को अपने देशवासियों के बल, तेज, ओज, क्षमा, सहिष्णुता, तप, ज्योति आदि पर गहरी आस्था है। प्रबल विश्वास है। इसलिए वे अपने देशवासियों से ही इन गुणों की माँग करते हैं, अलौकिक शक्ति से नहीं। यह सामाजिक या समाज चिंता ही तो है कि वे 'युद्ध विराम' शीर्षक कविता में जन-संपृक्ति का उदाहरण पेश करते हैं—

"हमें बल दो, देशवासियो,
क्योंकि तुम बल हो,
तेज दो, जो तेजस हो
ओज दो, जो ओजस हो
क्षमा दो, सहिष्णुता दो, तप दो
हमें ज्योति दो, देशवासियो,
हमें कर्मकौशल दो;
क्योंकि अभी कुछ नहीं बदला है,
अभी कुछ नहीं बदला है..."

—सदानीरा, भाग-2, पृ. 157

अज्ञेय की समाज चिंता में समाज के स्वरूप के बारे में भी जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अज्ञेय ने जिस समाज की कल्पना की थी या जिस समाज को महत्त्व दिया था उसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। व्यक्ति अकेला हो सकता है, लघु भी हो सकता है पर उसका विश्वास नहीं डगमगाता या आस्था नहीं टूटती। वह गर्व से भरा है। मदमाता है। इसके पश्चात् उसे पंक्ति यानी समाज में स्थानित किया जाए। 'केले का पेड़' की तरह रीढ़विहीन, व्यक्तित्वविहीन, लिजलिजे व्यक्तियों के समूह को समाज कैसे कहा जाए? स्वस्थ समाज तो कतई नहीं कहा जा सकता। 'नदी के द्वीप' कविता में भी द्वीप कहते ही हैं 'तो हमें स्वीकार है वह भी।' समाज के हित के लिए तत्पर व्यक्ति, देश के कल्याण के लिए अपने को उत्सर्ग करने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता को कवि ने तब महसूस किया था जो आज भी प्रासंगिक है, युगोपयोगी है। व्यक्ति की महत्ता हो और समाज की भी। एक ऐसा समाज जहाँ अपनी स्वाधीनता की परवाह हो और सबकी स्वाधीनता की फिक्र हो।

1947 के आस-पास भारत का समय बेहद हलचल भरा था। देश-विभाजन, आगजनी,

खून-खराबा, मार-काट, सांप्रदायिक दंगे आदि से देश लहूलुहान हो रहा था। अपने स की हलचल से कोई लेखक असंपृक्त नहीं रह सकता है। अज्ञेय भी अपने समय के उथ पुथल से बेपरवाह न थे। इन घटनाओं से वे आंदोलित थे, उद्वेलित भी हुए। 1947 में प्रक अज्ञेय की 15 कविताओं में से 11 कविताएँ शरणार्थी सीरीज की हैं। इन कविताओं के में मैनेजर पाण्डेय का मानना है—"वे कविताएँ विभाजन के दौरान घृणा के ताण्डव आजादी के आन्दोलन में निहित सांप्रदायिकता की, निर्मम आलोचना की और उससे भ नतीजों की ओर संकेत करती, हमारी चेतना को भीषण तनाव में डालने वाली, महाकाव्यात दृष्टि की, स्त्री की यातना की और दलित सवालों से टकराने वाली कविताएँ हैं 12 अक्टूबर, 1947 से 12 नवम्बर, 1947 के बीच लिखी गई इन कविताओं में अभिव्य कवि की चिंता किसी भी प्रगतिवादी कवि की रचनाओं की तुलना में कमतर सावित न होगी। इनमें विस्थापन का दर्द है। मनुष्य विरोधी शक्तियों का नग्न नृत्य है। कवि के सम का जीवंत दस्तावेज है। सवसे वड़ी वात है कि इतना सब कुछ होते हुए भी इनमें कवित उत्कर्ष पर है। "शरणार्थी-11: जीना है वन सीने का साँप" की पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

"हमने भी सोचा था कि अच्छी चीज़ है स्वराज
हमने भी सोचा था कि हमारा सिर
ऊँचा होगा ऐक्य में! जानते हैं पर आज
अपने ही वल के, अपने ही छल के
अपने ही कौशल के
अपनी समस्त सभ्यता के सारे
संचित प्रपंच के सहारे
जीना है हमें तो, वन सीने का साँप उस अपने समाज के
जो हमारा एकमात्र अक्षंतव्य शत्रु है,
क्योंकि हम आज हो के मोहताज
उसके भिखारी शरणार्थी हैं।"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 225

इसी प्रकार 'शरणार्थी 8 : हमारा रक्त' की प्रारंभिक पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं—

"वह इधर वहा मेरे भाई का रक्त
वह उधर रहा
उतना ही लाल
तुम्हारी एक बहिन का
रक्त!
वह गया, मिलीं दोनों धारा
जाकर मिट्टी में
हुए एक।"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 225

'जियो मेरे' शीर्षक कविता में कवि ने 'आज़ाद देश के शानदार शासकों, सांस्कृतिक प्रतिनिधियों, रोशन-जमीर लोक नेताओं के अंतर्विरोध, चारित्रिक दोहरापन, भ्रष्टाचार आदि का खुलासा किया है। यह कविता 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' काव्य-संग्रह में संकलित है। प्रकाशन काल है 1975। कवि की समाजवादी कविताओं में व्यंग्य की जबरदस्त मौजूदगी होती है। कवि ने लिखा है—

"जियो, मेरे आज़ाद देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों
जो विदेश जाकर विदेशी नंग देखने के लिए पैसे देकर
टिकट खरीदते हो
पर जो घर लौटकर देशी नंग ढकने के लिए
खजाने में पैसा नहीं पाते"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 322

अज्ञेय की सामाजिक विचारधारा में मानववादी दृष्टि का महत्त्व है। वे मानवेंद्रनाथ राय की मानववादी दृष्टि से प्रभावित थे। आज की तारीख में मनुष्य और मानवता दुर्लभ होने लगे हैं। जल्द ही ऐसा लगता है कि मनुष्यता स्मारकों व संग्रहालयों में कैद हो जायेगी। इसी मनुष्यता को बचाए रखने की चिंता थी अज्ञेय को। इसलिए वे अपनी संपूर्ण आस्था मनुष्य में पाते हैं। वे जानते थे कि मानवता बचेगी तो मनुष्य जाति बची रहेगी। इसलिए वे लिखते हैं—

"मेरे हर सुख में,
हर दर्द में, हर यत्न के हर प्रतिकार में
धड़कें, नारायण! तेरी वेदना
जो गति है मनुष्य मात्र की।"

—सदानीरा, भाग-1, पृ. 173-74

कहा जा सकता है कि कवि अज्ञेय ने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक संकीर्णता का विरोध किया है। देशहित, जनहित को प्राथमिकता दी है। इसके बाधक तत्वों की जमकर खबर ली है। स्वस्थ समाज के निर्माण में छल-कपट करने वाले लोगों का पर्दाफाश किया है। सरकार या शासन-तंत्र की विफलताओं की कसकर मरम्मत भी की है। इसी क्रम में वे पूँजीपतियों, ढोंगी, पाखंडी पंडों-पुरोहितों की भी आलोचना करते हैं। वे पीड़ितों का साथ देते हैं। कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा के गायक हैं। निर्बल, उपेक्षित और शोषित के प्रति संवेदनशील हैं। अत: अज्ञेय न तो 'अहंवादी, व्यक्तिवादी, असामाजिक, हिन्दुत्ववादी' हैं और न 'घोर वाम-विरोधी, कम्युनिस्ट-द्वेषी, दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी लेखक व कवि' हैं। अज्ञेय महान प्रगतिशील मानववादी हैं। दरअसल, हिन्दी आलोचना ने अज्ञेय की कविताओं पर एक खास तरह का लेबिल चिपका दिया है। पूर्वाग्रह से आस्वादन के विश्वास को उज्जीवित किया जाए ताकि अज्ञेय की कविताओं के साथ न्याय हो सके।

□□□

जिंदगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही : मुक्तिबोध की कविता

1943 में अज्ञेय के संपादन में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ मुक्तिबोध हिंदी साहित्य परिचित हुए। महाप्राण निराला के बाद मुक्तिबोध ही एक ऐसे कवि हैं जिनका जीवन अ कविता एक-दूसरे से अविच्छेद्य हैं। मुक्तिबोध का निजी व्यक्तित्व एवं कवि व्यक्तित्व परस संबद्ध है। अपने जीवनकाल में कवि को वह प्रसिद्धि न मिली थी जो मृत्यु के पश्चात् प्रा हुई। भले ही अपने जीवनकाल में मुक्तिबोध का कवि उपेक्षित रहा परंतु उनकी कविता का सही मूल्यांकन मृत्यु के बाद ही हुआ है। इस संदर्भ में काफ्का का कथन है—"मौलि जीवन दृष्टि और असाधारण प्रतिभावाले युगद्रष्टा कलाकार व्यावहारिक जीवन में असफ और जीवन काल में लोकप्रिय न होने पर भी अपनी रचनाओं के कारण मरने के बाद अम होते हैं।" यह कथन मुक्तिबोध के लिए पूर्णतया लागू होता है।

अब तक मुक्तिबोध के साहित्य पर काफी कुछ लिखा जा चुका है, कहा जा चुक है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इस पर कुछ लिखा न जाय अथवा विचार न किय जाय, साहित्य में कोई भी विचार या मूल्यांकन अंतिम नहीं होता। समयानुसार रचना की अर्थवत्ता बदलती रहती है। वास्तव में यही रचनाकार तथा रचना के प्रति सही दृष्टि होती है कि बदलते परिदृश्य में उसके रचना-संसार का मूल्यांकन किया जाए।

निराला की तरह मुक्तिबोध भी संघर्ष के कवि हैं। उन्होंने वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक समस्याओं को अपनी कविताओं का वर्ण्य-विषय बनाया है। इन समस्याओं से दीर्घावधि तक लड़ने-जूझने के पश्चात् कवि मुक्तिबोध ने समय के सत्य को अभिव्यक्त किया है। मुक्तिबोध वैयक्तिक जीवन की समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहते। वे संपूर्ण मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं से उलझते हैं। इसलिए उनकी कविताओं में चित्रित समस्याएँ समस्त मध्यवर्गीय समाज की समस्याएँ बनकर उभरती हैं।

उच्च वर्ग आर्थिक दृष्टि से संपन्न होता है। यह वर्ग अर्थ के बल पर मध्यवर्गीय समाज पर हावी होता है। अपना दबदबा बनाये रखना चाहता है। फलस्वरूप, मध्यवर्गीय समाज का समुचित ढंग से विकास नहीं हो पाता है। उसकी छोटी-छोटी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती

हैं। छोटे-छोटे सपने अधूरे रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में कसक, छटपटाहट, निराशा, कुण्ठा आदि उत्पन्न होती है। मुक्तिबोध की कविताओं की खूबी यह है कि उपर्युक्त ऋणात्मक भाव मनुष्य को संघर्ष के लिए प्रेरित करते हैं। नई खोज के लिए उत्साहित करते हैं। कवि का प्रश्नाकुल मन पूछता है—

"मेरे सामने है प्रश्न
क्या होगा कहाँ किस भाँति
मेरे देश भारत में
पुराने हाथ में से
किस तरह से आगे भचकेगी
उड़ेगी किस तरह भक् से, हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टान?"

—चाँद का मुँह टेढ़ा है, 1971, पृ. 16

मुक्तिबोध के सामने केवल एक समस्या नहीं है। कई समस्याओं से कवि लड़ता-जूझता है। इसलिए उसके विषय-चयन में भी विविधताएँ पाई जाती हैं। भले ही कवि स्वयं को अथवा अपने मन को संबोधित करके किसी तथ्य के उद्घाटन का प्रसंग उपस्थापित कर रहा हो, परंतु वहाँ भी उनकी दृष्टि व्यापक हुआ करती है।

मुक्तिबोध की कविताओं में कवि का आक्रोश व्यक्त हुआ है। दुःख, कष्ट, निराशा के कारण यह आक्रोश उत्पन्न हुआ है। निराला ने कहा था 'दुःख ही जीवन की कथा रही'। दुःख मुक्तिबोध का भी जीवन है। हालाँकि मुक्तिबोध ने दुःख पर आधारित जीवन जीने में अपना गौरव माना है। इसलिए उनके जीवन में दुःख सत्य बना हुआ है। दुःख की सूक्ष्मता से वे परिचित हैं। दुःख के रंगों से वे वाकिफ़ हैं। यह दुःख केवल कवि का नहीं रह जाता, मध्यवर्गीय समाज के दुःख का प्रतिनिधित्व करता है। स्पष्ट है कि मुक्तिबोध की कविताओं में निजी समस्या के संकेतों के सूत्र तो मिलते हैं, साथ ही अपने वर्ग के लोगों की स्वार्थपरता के पदचिन्ह भी प्राप्त होते हैं। अधूरे जीवन के मार्ग पर चलते हुए मुक्तिबोध ने आत्म-संघर्ष के पश्चात् एक मूल समस्या की तलाश की है। शोषण से मुक्ति एवं सबके लिए समान सुख-सुविधा के विधान की समस्या की तलाश। कवि ने उसे केवल अन्वेषित नहीं किया बल्कि उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने वर्ग संघर्ष पर आधारित जन-क्रांति में उस समस्या का एकमात्र समाधान प्राप्त करना चाहा है। 'चकमक की चिंगारियाँ शीर्षक कविता में इसके संकेत मिलते हैं।' एक अन्य कदिता 'अंतःकरण का आयतन' में भी कवि ने क़हा है—

"सुकोमल काल्पनिक तल पर
नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
तुम्हारी स्वप्न वीथी कर सकेगी क्या?

बिना संहार के, सर्जन असंभव है
समन्वय झूठ है
सब फूटेंगे
वा उनके केंद्र टूटेंगे।"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 151-

मुक्तिबोध सामाजिक सरोकारों के कवि हैं। जीवन और कविता के अनन्य सम्बन्ध स्वीकार करने वाले प्रतिबद्ध एवं जागरूक कलाकार हैं। वे जीवन के प्रश्नों से जूझते हैं प्रस्तुत करते हैं—

"कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
सभी प्रश्नोत्तरी की तुंग प्रतिमाएँ
गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से
कि वे सब प्रश्न कृत्रिम और उत्तर और
भी छलमय
समस्या एक—
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुंदर व शोषण-मुक्त
कब होंगे?"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 2

मुक्तिबोध की प्रत्येक कविता भीतर और बाहर के द्वन्द्व, संघर्ष और समस्या से संब है। वे निजी, सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति भी अत्यंत जागरूक हैं। इसलि उनकी रचनाओं में जीवनानुभव के साथ निनादित होते हैं। इसी प्रकार 'चंबल की घाटी शीर्षक कविता अनेक समस्याएँ एवं प्रश्न उपस्थित करती है। उक्त कविता में तमाम समस्या व प्रश्नों ने अंत:-बाह्य द्वन्द्वों का सघन रूप प्रस्तुत किया है। अनेक घटनाओं एवं दृश्यों देखने के पश्चात् स्वयं वेदना क़हती है—

"ओ मेरे भयानक पत्थरी
शिकंजों
उनमें फँसे हुए रत्नों
मूर्ख हो दोनों
तुम्हारे जो सीने पर सहसा आ बैठा
वह एक भयानक डाकू है.... समझे!!
डाकू है डाकू!!"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 41

मुक्तिबोध के सामने समस्या है कि उनके देश के लोग कब सभ्य और शोषणमुक्त होंगे। वे संपूर्ण हिंदुस्तान को उसकी समस्याओं को कविता में देखने का प्रयास करते हैं। सामान्य जन से राजनेता तक की तमाम वस्तुस्थितियों से परिचित करवाते हैं। पूँजीवादी झूठ के व्यापक अत्याचार की समस्या को प्रस्तुत करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था रामू ही नहीं बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, नेताओं तथा कलाकारों को भी अपना नौकर बना लेती है। वे आर्थिक व विपन्नता की बात उठाकर उस अत्याचार के विरोध में क्रांति की बात कहते हैं। पूँजीवादी अमानवीय क्रूरता को प्रस्तुत करते हैं। 'जिंदगी का रास्ता' कविता में कवि का उद्‌गार है—

"रामू जानता है कि पूँजीवादी शक्तियाँ
जन-जन की छाती पर बैठकर
शासन की चाकू से
विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखों को काटकर
निकाल लेना चाहती है।
अवरुद्ध जीवन को अकस्मात् किसी ने
सत्य की शक्ति दी औ हिम्मत की
राह दी
पूँजीवादी झूठ के विराट अत्याचार के बीच।"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-1, पृ. 268-69

रामू को पता है कि वह इस व्यवस्था को परिवर्तित करने में असमर्थ है। परंतु उसकी दृढ़ आस्था है, मजबूत इरादा है, दृढ़ विश्वास है कि—

"कदाचित मेरी अस्थि कभी किसी काम आ जाए
जनों के हाथों में खिलाफ जानवरों के।"

सत्य की उपलब्धि हो भी जाए तो क्या उसे हम हस्तगत कर पा रहे हैं? उसे खो देने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। समय था कभी 'लोग' कवि के आत्मीय थे। बाहरी जिंदगी की भाग-दौड़ में वे अपनों से बिछड़ जाते हैं। लोगों में बहुत बदलाव आ गया है। इस बदलाव से कवि उद्विग्न है। वह अभिव्यक्त करता है—

"लोगों—
एक जमाने में जो मेरे ही थे;
बहुत स्वप्न-द्रष्टा थे
कवि थे, चिंतक और क्रांतिकारी थे
क्या हो गया तुम्हें अब—
प्रतिदिन कर उपलब्ध सत्य

P.M.S. MAHAVIDYALAYA
CALL NO.
ACC. NO. 12843
DATE/BILL 278/25.01.16.

अब खो देते अगले ही क्षण ही
निज द्वारा अनुसंधानित होते हैं। अन्तर्हित
बाहरी जिंदगी के हो-हल्ले-मेले में
अपने अनुभव के पुत्र गँवा देते हो क्यों?
क्यों बिछुड़े तुम अपनों ही से!''

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2,

यहाँ कवि का प्रश्न व्यापक संदर्भ से ओत-प्रोत है। इन लोगों के अनुभव ही उ थे, अपने थे। उन्हें यानी अपनों को खोना है। ऐसे अनुभव-पुत्रों से बिछड़ना कवि- व्यथित करता है। यह एक बड़ी समस्या है जो कवि-हृदय को बार-बार चुभती है। तौर पर मूल्यों-सत्यों-अनुभवों की बात करने वाले व्यावहारिक जीवन में नितां आचरण करते हैं।

मुक्तिबोध की कविता इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह किसी न किसी समस बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत करती है। 'ब्रह्म राक्षस' कविता मध्यवर्गीय बुद्धिजी छटपटाहट व्यक्त करती है। यह सच है इस कविता में कवि की निजी समस्या भी स है। मध्यवर्गीय कुण्ठा, अंतर्विरोध, दंभ आदि व्यक्ति को आत्मकेंद्रित बना देते हैं। आत्मकें विकास को अवरुद्ध करती है। आत्मसंघर्ष के साथ वैयक्तिक मूल्य स्थापना की समस चित्रित है। बुद्धिजीवी को विश्वास है कि यदि आत्मपरिचय हो जाय तो संभवतः वह से परिचित हो सकता है। उसकी मानसिक व्याकुल अवस्था, अन्तर्विरोधों की प्रस्तुति मुक्तिबोध उसके आंतरिक मूल्यों को स्थापित करते हैं—

''आत्मचेतस किंतु इस व्यक्तित्त्व में थी
प्राणमय अनबन....
विश्वचेतस् बेबनाव
महत्ता के चरण में था। विषदाकुल मन
मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन यदि
तो व्यथा उसकी स्वयं जीकर
बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य
उसकी
महत्ता
वह उस महत्ता का
हम सरीखों के लिए उपयोग
उस आतंकिता
का बताता मैं महत्त्व।''

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 3

P.M.S. MAHAVIDYALAYA
PMSML
12843

'आत्मचेतस' से 'विश्वचेतस्' तक की बातों से यह सिद्ध होता है कि अपनी पहचान के द्वारा विश्व तक पहुँचना है। अपनी पहचान के लिए निजी समस्याओं से गुजर कर आत्मसंघर्ष की स्थिति में पहुँचना है। उल्लेखनीय है कि कवि की निजी समस्या वैयक्तिक होकर नहीं रह जाती, वह सामाजिक बनकर प्रस्तुत होती है।

भारतीय संस्कृति में संयुक्त परिवार प्रणाली की व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस व्यवस्था में परिवार के अनेक सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों से परिचित होते हैं। अपनी मर्यादा का खयाल करते हैं। साहचर्य का महत्त्व प्रतिष्ठित होता है। पारस्परिक कलह नहीं के बराबर होते हैं। हालाँकि इसका दूसरा पहलू भी है जो हमेशा शांति, प्रीति एवं मैत्री में बाधा उत्पन्न करता है। इसी पहलू के चलते संयुक्त परिवार टूट रहा है। एकल परिवार का बोलबाला हो रहा है। यहाँ भी रिश्तों में दरार है। आधुनिक कविता में परंपरावादी कवियों ने संयुक्त परिवार के परम्परागत आदर्शों की पुनर्स्थापना के लिए प्रयास किया है। साथ ही वास्तविक स्थिति से परिचित भी कराया है। मुक्तिबोध ने गृहकलह से त्रस्त बहुओं की आत्महत्या करते रहने की सामाजिक समस्या की बात कही है—

''गृहकलह से त्रस्त बहुएँ मुंडेरों से कूद कर
आत्महत्या करती हैं।''

व्यक्ति की चेतना, उसकी बौद्धिक क्षमता का विकास, शारीरिक उपलब्धियाँ सभी समाज की ही देन है। परिवार से संबंधित हर व्यक्ति इसी कारण एक दूसरे से जुड़ा रहता है। अपने कर्त्तव्यों के पालन के साथ-साथ वे वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्व का भी निर्वहन करते हैं। बहुओं की आत्महत्या परिवार की नहीं संपूर्ण समाज की समस्या है। इस तरह की तमाम समस्याएँ मुक्तिबोध ने अपने काव्य में प्रस्तुत की हैं। उन्होंने उन समस्याओं के समाधान-सूत्रों को भी तलाशते हुए कहा है—''हर एक समस्या का एक समाधान है—चाहे अधूरा ही क्यों न सही। इसलिए मैं अपने आस-पास के लोगों, अपने [illegible] आत्म-संबंधियों और अपने सहयोगियों तथा परिचितों में उसे ढूँढ़ने लगता हूँ। और, [illegible]हस, छिड़ जाती है, और बहुत बार धरित्री अपने रत्न उगल देती है, और मैं अपने [illegible]व में भी अत्यंत संपन्न अनुभव करने लगता हूँ, किंतु देश-विदेश में हो रहे प्रयत्नों की [illegible]भावना की अपेक्षा मैं नहीं कर पाता और इस तरह मेरी छाया पृथ्वी पर भटकती रहती है।''

—नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. 112-13

मुक्तिबोध की कविताओं में राजनीतिक प्रश्न भी उद्घाटित हुए हैं। मुक्तिबोध की राजनीति संबंधी सोच-समझ अत्यंत सूक्ष्म थी इसलिए व्यापक भी। उन्होंने 'एक साहित्यिक की डायरी' में अपनी राजनीतिक पक्षधरता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुजुर्गों ने ही अनाचार एवं अवसरवादिता का सूत्रपात किया है—''मेरा अपना विचार है कि जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचार से आज सारा समाज व्यथित है, उसका सूत्रपात

बुजुर्गों ने किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत में दिल्ली से लेकर प्रांतीय राजधानि... अवसरवाद और भ्रष्टाचारवादिता के जो दृश्य दिखाई दिये उनमें बुजुर्गों का हा... (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 35), 'अँधेरे में' क... कविता में राजनीतिक समस्या प्रस्तुत की गई है। इसमें उन्होंने गाँधी, तिलक के प्रती... माध्यम से व्यवस्था की वास्तविकता की पोल खोल दी है। राजनीति में आये परि... सचेत होकर मुक्तिबोध कहते हैं—

"एकाएक मुझे भान होता है जग का
अखबारी दुनिया का फैलाव
फँसाव, घिराव है सब ओर
पत्ते न खड़कें
सेना ने घेर ली हैं सड़कें
बुद्धि की मेरी रग
गिनती है समय की धकधक
यह सब क्या है?/किसी जनक्रांति के दमन-निमित्त यह
मार्शल लॉ है!!"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 3...

इस प्रकार के अनेक संदर्भ उनकी कविताओं में मिलते हैं। कभी नेता लोग राजनीति... मूल्यों, आदर्शों या नैतिक आधारों पर जीवन व्यतीत करते थे। आज सब कुछ बदल ग... है। 'रक्षक' अब 'भक्षक' की भूमिका में अवतीर्ण हो चुके हैं। मुक्तिबोध ने ब्रिटि... साम्राज्यवादी व्यवस्था और सामंती वर्ग का विरोध किया है। इस वर्ग के कारण जनसा... का अहित हो रहा है। इसलिए कवि ने क्रांति अर्थात् जनक्रांति की सार्थक खोज की। ... जनक्रांति की अपराजेय इच्छा और संभावित क्रांतिकारी शक्तियों के दृढ़ संकल्प की ... संकेत किया गया है। इस क्रांति में दादा का सोटा, कक्का की लाठी और बच्चे की स्ले... पट्टी प्रक्षेपास्त्र का काम करते हैं। ऐसी स्थिति में 'वह' 'जन' में रूपांतरित होकर जनक्रां... का अग्रदूत बन जाता है। 'जन' के साथ 'वह' एकाकार हो जाता है। कवि कहता है...

"इसीलिए मैं हर गली में
और सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ
हर एक चेहरा। प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनीतिक परिस्थिति

बुजुर्गों ने किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत में दिल्ली से लेकर प्रांतीय राजधानियों तक अवसरवाद और भ्रष्टाचारवादिता के जो दृश्य दिखाई दिये उनमें बुजुर्गों का हाथ है।" (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, एक साहित्यिक की डायरी, पृ. 35), 'अँधेरे में' शीर्षक कविता में राजनीतिक समस्या प्रस्तुत की गई है। इसमें उन्होंने गाँधी, तिलक के उल्लेख के माध्यम से व्यवस्था की वास्तविकता की पोल खोल दी है। राजनीति में आये परिवर्तन से सचेत होकर मुक्तिबोध कहते हैं—

"एकाएक मुझे भान होता है जग का
अखबारी दुनिया का फैलाव
फँसाव, घिराव है सब ओर
पत्ते न खड़कें
सेना ने घेर ली हैं सड़कें
बुद्धि की मेरी रग
गिनती है समय की धकधक
यह सब क्या हैं?/किसी जनक्रांति के दमन-निमित्त यह
मार्शल लॉ है!!"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 312

इस प्रकार के अनेक संदर्भ उनकी कविताओं में मिलते हैं। कभी नेता लोग राजनीतिक मूल्यों, आदर्शों या नैतिक आधारों पर जीवन व्यतीत करते थे। आज सब कुछ बदल गया है। 'रक्षक' अब 'भक्षक' की भूमिका में अवतीर्ण हो चुके हैं। मुक्तिबोध ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था और सामंती वर्ग का विरोध किया है। इस वर्ग के कारण जनसामान्य का अहित हो रहा है। इसलिए कवि ने क्रांति अर्थात् जनक्रांति की सार्थक खोज की है। जनक्रांति की अपराजेय इच्छा और संभावित क्रांतिकारी शक्तियों के दृढ़ संकल्प की ओर संकेत किया गया है। इस क्रांति में दादा का सोटा, कक्का की लाठी और बच्चे की स्लेट-पट्टी प्रक्षेपास्त्र का काम करते हैं। ऐसी स्थिति में 'वह' 'जन' में रूपांतरित होकर जनक्रांति का अग्रदूत बन जाता है। 'जन' के साथ 'वह' एकाकार हो जाता है। कवि कहता है—

"इसीलिए मैं हर गली में
और सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ
हर एक चेहरा। प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनीतिक परिस्थिति

जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति
आत्म-संभवा।"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 353

मुक्तिबोध ने भ्रष्टाचारियों में मंत्री, विधायक, उद्योगपति एवं अफसरों का तालमेल दिखाते हुए अत्यंत घृणापूर्वक कहा है कि उनका विवेक लुप्त हो जाता है और आत्माएँ मर जाती हैं। ये सफेदपोश लोग दिन के प्रकाश में तो बड़े 'भद्रलोक' प्रतीत होते हैं जबकि उनकी दूषित काली आत्माएँ घरों-दफ्तरों-केंद्रों में अपने राक्षसी स्वार्थों की पूर्ति के षड्यंत्र रचती रहती हैं। मुक्तिबोध ने इस वर्गीय चेतना, शोषितों की दुरावस्था का अत्यंत सतर्कता के साथ चित्रण किया है। उन्हें पूँजीवादियों द्वारा होने वाले शोषण से चिढ़ है। इसलिए उन्होंने वर्गीय समस्याओं को अपनी रचनाओं में शामिल किया है। भारतीय जन जीवन की दयनीय स्थिति को विशेष रूप से प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि शोषक वर्ग से शोषित वर्ग हमेशा पीड़ित होता आ रहा है। इस दशा से अकेले व्यक्ति की मुक्ति नहीं हो सकती। यदि मानव संगठित होकर संघर्षरत रहने की प्रवृत्ति रखे तभी उसकी मुक्ति संभव है।

मुक्तिबोध की कविताएँ मानव समस्याओं से जुड़ी हुई हैं। उनकी अनुभूतियाँ, समस्याएँ मध्यवर्गीय अनुभवों पर आधारित हैं। उनकी कविताएँ लोकहित की कविताएँ हैं तथा वे मानव-मुक्ति के कवि हैं। जनसामान्य, देहाती जीवन के जीवंत प्रश्न, दलितों के तिरस्कृत जीवन तथा मेहनतकश लोगों से मुक्तिबोध का प्रत्यक्ष संबंध रहा है। आर्थिक अभाव में जीने वाले वर्गों के प्रति उनकी दृष्टि सर्वदा सहानुभूति की रही है। आर्थिक विपन्नता से आम जनता को मुक्त करना चाहते हैं। जरूरत है तो बस लोग संगठित होकर रहें।

'अँधेरे में' शीर्षक कविता में कवि ने सांस्कृतिक समस्या को भी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इस कविता का मनु रक्तलोकस्नात पुरुष है। वह फटे वस्त्र धारण कर वक्ष पर भाव तथा रोटी पानी की समस्या को लिए चित्रित हुआ है। मनु संदेह आत्मा है। साकार प्रेम की अतिशयता है। वह संघर्षरत है। मानवीय संस्कृति के विकास हेतु निरंतर संघर्षशील है। वह हम सबके अंतर्मन में विद्यमान है। वह बाहर ही नहीं भीतर भी है। वह कर्मशील तथा शक्तिवान होते हुए भी दरिद्रता के कारण करुण भाव लिए हुए है। उल्लेखनीय है कि वह समाज के शोषित, उत्पीड़ित, गरीब जनों का प्रतिनिधि है।

'लकड़ी का रावण' कविता द्वारा कवि ने साम्राज्यवादी मानसिकता की समस्या प्रस्तुत की है। यह 'रावण' साम्राज्यवादी मानसिकता का प्रतीक है और वानर जनसामान्य के रूप में चित्रित है। पूँजीवादी राज-सत्ता द्वारा जनता के शोषण का भी उद्घाटन किया गया है। उस रावण का चित्रण है—

"स्वयं की ही लगता हूँ
बाँस के व कागज के पुट्‌ठे के बने हुए
महाकाय रावण-सा हास्यास्पद
भयंकर!" —**मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 37**

भारतीय संस्कृति के रक्षक महाशोषकों का साथ दे रहे हैं अथवा उनका दास बने हुए हैं। अवसरवादिता एवं चाटुकारिता में अपना जीवन बिता कर यह प्रवृत्ति बड़ी समस्या बनकर खड़ी होती है।

मुक्तिबोध ने जीवन की मूलभूत समस्याओं को अपने काव्य का विषय बनाया है। शोषण एवं अत्याचार की मूल समस्या के साथ सामाजिक समस्याओं का रहस्योद्घाटन किया है। वैयक्तिक समस्या हो अथवा वर्गीय समस्या, सामाजिक समस्या हो अथवा सांस्कृतिक या राजनीतिक समस्याएँ—इन सबका केंद्र मनुष्य है, मानव जीवन है। मानव मात्र का जीवन सुखी, सुंदर और शोषणमुक्त कैसे संभव होगा? इसी समस्या से वे सदा चिंतित रहे। यथासंभव उसके समाधान के सूत्र स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहे। भले ही मुक्तिबोध का कल्पित भविष्य आज भी सुंदर नजर आता हो परंतु संघबद्धता या एक्यबद्धता को हमने अपनाया भी तो नहीं। उनकी कविता की सचाई आज हमारे युग की सचाई बन गई है। जरूरत है कि बहुसंख्यक साधारण जनता के साथ अपने 'स्व' को समर्पित करें। इससे वास्तविक मुक्ति के द्वार उन्मुक्त होंगे। 'जंगली शृंगाल सौ बुद्धिभ्रष्ट' से आम जनता मुक्त होगी और मुक्तिबोध का सपना साकार होगा कि 'क्या उत्पीड़कों के वर्ग से होगी न मेरी मुक्ति!!'

□□□

बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ

भवानी प्रसाद मिश्र (29-03-1913 से 20-02-1985) आधुनिक हिंदी साहित्य के अतिमहत्वपूर्ण कवि हैं। उन्होंने 1930 से जो काव्य-यात्रा शुरू की थी वह न केवल लंबी कालावधि के लिए जानी जाती है बल्कि विशिष्ट पहचान के चलते यह सर्वाधिक प्रभावित भी करती है। भवानी मिश्र की कविताएँ सहज हैं, सरल हैं। पाठक से संवाद करती हैं। आत्मीयता स्थापित करती हैं। ये कविताएँ न तो किसी 'वाद' के घेरे में सीमित हैं और न ही किसी विचारधारा की गलियों से गुजरती हैं। नैसर्गिक ढंग से रची गई इन कविताओं में नैसर्गिकता है। ताजगी है ताजे-तटके फूल की तरह। भवानी प्रसाद ने अपना 'ढंग' विकसित किया दूसरों की नकल नहीं की। छायावाद के दौर में उन्होंने कविता लिखना शुरू किया था। लेकिन, छायावादी कविताएँ भवानी भाई ने नहीं लिखीं। दूसरे सप्तक के मूर्धन्य कवि के रूप में अज्ञेय जी ने उनकी कविताएँ संगृहीत कीं लेकिन वे प्रयोगवादी कवि भी नहीं हैं। गाँधीजी के विचारों के प्रबल समर्थक थे। पर, भवानी प्रसाद गाँधीवादी नहीं थे। उनकी कविताओं में गरीब, पीड़ित, दलितों की पीड़ा चित्रित हुई है। आम आदमी के दुःख-दैन्य उज्जीवित हुए हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सरोकारों से उनकी कविताएँ संपृक्त हैं। लेकिन भवानी प्रसाद मिश्र मार्क्सवादी नहीं थे। कहने का आशय यह है कि यह कवि न छायावादी था, न प्रगतिवादी और न ही प्रयोगवादी। पुनः यह कवि न गाँधीवादी था और न ही मार्क्सवादी। 'वाद' से परे था। स्वयं कवि ने कहा है—"न तो 'गाँधीवाद' को किसी-न-किसी 'संप्रदायवाद' से जोड़ता हूँ। इस अर्थ में गाँधी का चिंतन एक संप्रदाय का चिंतन नहीं है—एक अखंड विचारधारा से जुड़ा-बढ़ा सांस्कृतिक विकास का प्रवहमान चिंतन है। इस देश में किसी समुदाय या जाति-विशेष का इस पर अधिकार नहीं है। विचार जब 'वाद' में बदल जाता है तो संप्रदायगत रूप ले लेता है और थोड़े-से लोग उस पर एकाधिकार कर लेते हैं। सबसे बुरी बात यह होती है कि विचार विकसित होना बंद कर देता है।" (भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य संसार—कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 173-174)

भवानी प्रसाद ने विलक्षण काव्य-संसार का निर्माण किया है। 'लीक छाँडि चले शायर

सिंह सपूत।' उन्होंने साहित्य की खेमेबाजी को प्रोत्साहित नहीं किया। साहित्य की गुटबंदी में अपने को नहीं उलझाए रखा। यह भवानी प्रसाद की विलक्षणता है तो यह उनकी कुछ हद तक 'कमजोरी' भी है। सामर्थ्य है तो सीमा भी है। विलक्षणता और सामर्थ्य यह है कि उनकी कविताएँ बातचीत करती रहती हैं पाठकों से। उन्होंने कविताएँ लिखी नहीं बल्कि कविताएँ कही हैं। प्रत्यक्षत: अपने समय और समाज के चित्र अंकित करते हुए पाठकों के अंतर्मन को पुलकित, आनंदित और हर्षित करने वाले कवि का नाम है भवानी प्रसाद मिश्र। 'सीमा' या 'कमजोरी' यह है कि दो दर्जन के लगभग पुस्तकें लिखने के बावजूद हिंदी आलोचना की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिंदी आलोचना संसार ने 'गीत फरोश' के कवि के रूप में उन्हें सीमित कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गीत फरोश' ही लिखा है भवानी भाई ने। मानो इसके अलावा कुछ लिखा ही नहीं। लिखा भी तो दो कौड़ी की रचनाएँ। दो-चार ही आलोचनात्मक पुस्तकें उनकी कविताओं पर केंद्रित हैं। आलोचक कभी उनकी कविताओं में विचारधारा की कमी देखते हैं या विचारधारा से विहीन मानते हैं तो कभी उन्हें पेड़-पौधे, नदियों का कवि कहकर चुप्पी साध लेते हैं। आज भवानी प्रसाद के जन्म शताब्दी वर्ष में, कवि की आलोचकों पर जो टिप्पणी थी, उसे जान लेना अप्रासंगिक न होगा—"ज्यादातर आलोचकों के तयशुदा मानदंड होते हैं, बँधे विचार होते हैं और वे उनसे ही रचना को पढ़ते हैं, परखते हैं। रचना या रचनाएँ प्राय: उन मानदंडों के विरुद्ध होती हैं या अलग होती है, या मानदंडों की अपर्याप्तता-अनर्गलता सिद्ध कर रही होती हैं। पर आलोचक नाम का यह जीव भी बड़ा सिरफिरा होता है। यह नहीं समझता कि मेरे मानदंड अपर्याप्त हैं, खूसट हैं—उनसे घेरकर रचना को अपर्याप्त सिद्ध कर देता है। प्राय: मानदंड जो रचना के भीतर से नहीं आते, आलोचक के अपने नहीं होते। उधार के मानदंडों से वह समीक्षा करता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इधर की रचनाओं के साथ, नये रचनाकारों के साथ,पुरानों के साथ भी आलोचकों ने बड़ा अन्याय किया है।" (यथोपरि, पृ. 181) इस संदर्भ में भवानी प्रसाद ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को अद्वितीय आलोचक, काव्य-मर्मज्ञ सिद्ध किया है। उदाहरण के तौर पर जायसी संबंधी उनकी आलोचना की प्रशंसा की है। किसी भी रचना को खुले दिमाग से पढ़ना, खूब पढ़ना, बार-बार पढ़ना और उसके बाद कोई राय बनती है तो उसे लिखना चाहिए। 'टेक्स्ट' को बिना पढ़े आलोचना लिखने वालों की कमी कम-से-कम हिंदी में नहीं है। यह अत्यंत चिंता का विषय है।

भवानी प्रसाद मिश्र का रचनाकाल पराधीन भारत से आपातकालीन भारत तक व्याप्त है। बीसवीं शताब्दी के नौवें दशक तक है। स्वाभाविक है कि उनका काव्य संसार अति व्यापक रहा है। साथ ही, उनका काव्य संसार बहुरंगी है; वैविध्य से भरपूर भी। मनुष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोभावों से लेकर पूँजीवादी सभ्यता के दुष्परिणामों तक का चित्रण मिलता है। उन्होंने अपने समय और समाज की विडंबनाओं को, राजनीतिक दाँव-पेंच को, सत्ता

की चालाकियों को उतने ही हृदयस्पर्शी ढंग से चित्रित किया है जितने कि सतपुड़ा के जंगल, नर्मदा-विंध्यांचल के मनोरम चित्र प्रस्तुत किये हैं। इसलिए उन्हें केवल हरी-भरी अनुपम प्रकृति के चितेरे के रूप में स्मरण करना उनके काव्य जगत् के साथ अन्याय करने के बराबर है। प्राक्-स्वातंत्र्यकालीन कविताओं में कवि की राष्ट्रीय चेतना का मुखर स्वर सुनाई पड़ता है तो स्वातंत्र्योत्तरकालीन कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विसंगतियों का दस्तावेज विद्यमान है। सरल और सीधे किसान तथा मजदूरों की शोचनीय स्थिति के साथ शहरी जीवन की त्रासद स्थितियों को जीवंतता प्रदान की है। आशय यह है कि भवानी प्रसाद मिश्र क्रांति और शांति के कवि हैं।

भवानी भाई 'दादा' यानी माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'पुष्प की अभिलाषा' से अत्यधिक प्रभावित थे। भवानी प्रसाद की कविताओं में स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आह्वान है। उत्साह जाग्रत करने की शक्ति है। भारतीयों से शक्तिशाली बनने का आग्रह है। इसमें कवि ने भारतीय अतीत, वैभव, ऐतिह्य और संस्कृति का बार-बार हवाला दिया है ताकि भारतीयों में ओज, उत्साह और प्रेरणा का संचार हो—

"चलो तुममें शक्ति है तुम लपट के आगे दिखोगे
शक्ति है तुममें शक्ति है तुम लपट के आगे दिखोगे
चलो हे शंकर कि तुम तो आँख में बिजली लिए हो
चलो मृत्युंजय कि तुम तो गरलपायी, विष पिए हो।"

—गाँधी पंचशती, पृ. 25

कवि को पूर्ण विश्वास है कि आज़ादी मिलेगी। भारत स्वतंत्र होगा। सपना साकार होगा। इसके लिए पूरे देश को एकत्रित होकर अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने की जरूरत है। आवश्यकता है तो गाँधीजी के मार्ग पर चलने की। कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है—

दीवारों को चीर-चीरकर गाँधी की पुकार आती है
उठो भाइयों और पुकारो आज़ादी को
दो उसको विश्वास कि वह आयेगी जब द्वारे के भीतर
तब तुम उसे समझकर मन से सनमानोगे जानोगे
तुम उसकी कीमत...

—यथोपरि, पृ. 80

प्रसंगतया उल्लेख किया जा सकता है कि कवि ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के बाद राष्ट्रीय चेतना से संबंधित काव्य लिखे हैं। परिणामस्वरूप, उनकी रचनाएँ अनुभवों से पगी हुई हैं। 'कोरा आदर्शवाद' से प्रभावित होकर कविता लिखना भवानी प्रसाद की प्रकृति के प्रतिकूल है। यह बात केवल राष्ट्रीय चेतना से संबंधित कविताओं के लिए लागू नहीं होती है बल्कि उनके संपूर्ण काव्य-जगत् के संदर्भ में कहीं जा सकती है। भवानी प्रसाद मिश्र के गहन अध्येता कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा भी है—"मालवा-मध्यप्रदेश के खेत,

झोपड़े, चौपाए, किसान, मजदूर, अधनंगे बच्चे आदि सब उनकी कविता में बोलते मिलते हैं।'' (भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य-संसार, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 36)

कवि भवानी प्रसाद ने 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता का स्वागत करते हुए 'प्रभातगीत' शीर्षक कविता लिखी। बाद में प्रजातंत्र का हर्ष, उल्लास के साथ स्वागत करने के लिए आग्रह किया। उनकी दृष्टि में मानव सभ्यता के विकास के लिए प्रजातांत्रिक शासन-पद्धति जरूरी है। उन्होंने प्रजातंत्र का चित्रण प्रियतमा के रूप में किया है—

''उसने धानी साड़ी पहन ली है
और मुँह पर घूँघट डाल लिया है
कल वह चुपचाप वाली थी
आज वह हँसता हुआ एक फूल है
उसे आने दो मुझ तक
उसे रोको मत टोको मत वह मेरी प्रिया है।''

—गाँधी पंचशती, पृ. 234

बहुप्रतीक्षित आज़ादी मिली। लेकिन इसे पाने के लिए बहुत बड़ा मोल चुकाना पड़ा। गाँधीजी के दिखाये गये सपने बस सपने बनकर रह गये। देश के दो टुकड़े हो गये। सांप्रदायिकता के वीभत्स दृश्य उपस्थित हुए। सांप्रदायिक दंगों को उकसाया गया, भड़काया गया। हिंदुओं और मुसलमानों में एकता तथा भाईचारा उत्पन्न करने के प्रयास में भारत को दोनों स्वीकार है—

''हम ये जो हिंदू हैं, हम जो मुसलमान हैं
पहले ये सोचे हम कमकर हैं, किसान हैं।''

—यथोपरि, पृ. 155

एक ओर देश-विभाजन की त्रासदी है तो दूसरी ओर चंद्रकला की तरह बढ़ती हुई सामाजिक विषमता, आर्थिक असमानता, प्रांतीयता, सांप्रदायिकता, भाषाई संकीर्णता आदि ने देश को खोखला कर दिया। कवि ने इनके बारे में कभी सोचा भी न था। स्वतंत्र भारत के नेता भोग-विलास में डूबे रहे। स्वार्थांध बने रहे। भवानी प्रसाद मिश्र इन स्थितियों का चित्रण करते हैं—

''लोग उघाड़ें नंगे घूमे हम काला बाज़ार करें
लोग मरें भूखे भिखमंगे हम कोठ में धान भरें।
हमें न आँसे चैन हमारी औरों की बरबादी
होली जले किसी के मन में तब हो अपनी शादी।''

—यथोपरि, पृ. 137

पंडित नेहरू, विनोबा भावे और कृपलानी को पूरा भारत गाँधी के अनुयायी के रूप में जानता है। इन तीनों में विचार-वैविध्य है। कवि ने बिना किसी लाग-लपेट के नितांत सीधे-सादे शब्दों में स्पष्ट करना चाहा है कि इन तीनों के मतांतर से सर्वाधिक क्षतिग्रस्त गाँधी-दर्शन का होता है—

''गाँधीजी के तीन शिष्य, तीनों अलग
नेहरू का स्वर अलग, विनोबा का अलग
कृपलानी का और अलग, आनंद है।''

—यथोपरि, पृ. 310

गाँधी दर्शन को हानि पहुँची। यानी प्रकारांतर में भारत की हानि हुई। नेता शान-शौकत के प्रतीक बन गये। पीड़ित वर्ग की स्थिति पहले से भी दयनीय हो गयी। कवि के शब्दों में—

''दिल्ली क्या है?
मिली जुली ऐश्वर्य और
दारिद्रय की झाँकियों के बिना''

—खुशबू के शिलालेख

कवि की पीड़ा और भी घनीभूत होती है। देश में आपातकाल की घोषणा हुई। खादी और गाँधी को अपने जीवन का मूलमंत्र बनाने वाले कांग्रेसी भवानी प्रसाद ने आपातकाल का कड़ा विरोध किया है। उसे अभिव्यक्त किया है—

''कैसा मजा है!
मुँह खोला भर कि तैयार कोई सजा है।
दुःशासन को अनुशासन पर्व कहो तो ठीक,
पुलिस और सेना की क्रूरता पर गर्व करो तो ठीक''

—त्रिकाल संध्या, पृ. 120

मालूम हो कि आपातकाल में इस कवि ने रोजाना सुबह-दोपहर-शाम तीन कविताएँ लिखीं। इन्हें 'त्रिकाल संध्या' के नाम से प्रकाशित किया गया। कवि ने बुद्धिजीवियों और नेताओं की अवसरवादिता, इंदिरा-संजय के मनमानेपन को कोसा है तो आपातकालीन अत्याचारों का मुखर विरोध प्रकट किया है। इस चित्रण में कवि ने अपना धीर, गंभीर, शालीन और मर्यादित व्यक्तित्व को सदा बनाये रखा है। विनोबा भावे ने जब आपातकाल को अनुशासन पर्व कहा तो भवानी प्रसाद मिश्र लिखना नहीं भूलते—

''भीष्मों ने चुप्पी साध ली है
द्रोणों ने सिर झुका लिया है
कृपाचार्य बीमार है
खादी और गादी की लड़ाई का
नारा दिया था जिसने
हमारा वह सिपहसालार कभी का''

—त्रिकाल संध्या, पृ. 130

इस संदर्भ में भवानी प्रसाद की एक और कविता का उल्लेख किया जा सकता है जिसका शीर्षक है 'खादी का रिश्ता', गाँधीवादी विचारों को मानने वाली बहनों से कवि का संबोधन है। साथ ही, तत्कालीन समाज का चित्रण भी है। खादी सत्ता को हथियाने का माध्यम बन जाती है। गाँधी के नाम (लेबिल) का दुरुपयोग हो रहा है। इस मनोवृत्ति को उघाड़ते हुए कवि लिखता है—

''बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ
और जब चढ़ जाता है नशा भाषण होते हैं अंग्रेजी में
जोर जोर से बजती हैं तालियाँ।''

—गाँधी पंचशती, पृ. 33

कहना न होगा कि कवि ने 'त्रिकाल संध्या' में आपातकालीन भारतीय के आक्रोश और विरोध को वाणी प्रदान की है। निराशा, उदासी का प्रचार कवि का उद्देश्य न था। उसने भारतीयों में जागरण, आशा और विश्वास के भाव भरने का प्रयास किया है। जे.पी. मूवमेंट को रूपायित करते हुए अराजक स्थितियों और अत्याचारों का चित्रण किया है। इसलिए कवि की समय और समाज के प्रति प्रतिबद्धता को मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। अनुभूत सत्य और अकृत्रिम अभिव्यक्ति से संपन्न 'त्रिकाल संध्या' की कविताएँ दस्तावेज होते हुए भी कविता हैं।

कवि भवानी प्रसाद की कविताओं में मानव और मानव-मूल्यों की स्थापना की चिंता है। 'गीत फरोश' से लेकर 'खुशबू के शिलालेख' तक की कविताओं में कवि के इन सरोकारों को महत्त्व मिला है। कवि-कर्म की सफलता और सार्थकता को भवानी प्रसाद मानव-मूल्यों में अन्वेषित करते हैं—

''एक क्षण भी यदि किसी को
सांत्वना में हो सका रे
तो सफल यह रात...''

—कविता का रचना संसार, अजित कुमार, पृ. 131

जीवन के प्रति संपूर्ण संलग्नता के साथ-साथ मानवीय समस्याओं तथा संकटों के प्रति कवि-कर्त्तव्य, रूढ़ियों का विरोध और सघन मानवीय संबंध की आकांक्षा से ओत-प्रोत कवि का रचना-संसार अपने समकालीन रचनाकारों से अलग स्थान रखता है। अपनी सहज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति बड़ी सरलता और संप्रेषणीयता के साथ करने में भवानी भाई की कोई तुलना नहीं है।

यदि यह मान भी लिया जाये कि 'खुशबू के शिलालेख' की कुल बाईस कविताओं में से अधिकांश कविताएँ लंबी होते हुए भी प्रभावशाली नहीं बन पाई हैं फिर भी, इनके माध्यम से कवि की चिंता और सरोकारों को सहज ही समझा जा सकता है। मसलन, कवि ने अपने समकालीन जीवन की यांत्रिकता पर चिंता जाहिर की है। जीवन या तो जड़ बनता जा रहा

है अथवा संवेदनाओं से रहित। जीवन में सर्वाधिक महत्त्व अर्थोपार्जन का दिखाई पड़ता है। प्रेम, करुणा, संवेदना के स्थान पर स्वार्थ, व्यक्ति केंद्रिकता आदि का बोलबाला है। भवानी भाई ने इस प्रवृत्ति का कारण अन्वेपित किया है। उनके शब्दों में—

''पक्के घरों में रहने वाले
पक्के आदमियों ने
सिवा विचारों के सब कुछ
पक्का रखा है''

—खुशबू के शिलालेख, पृ. 140

सच है कि भवानी प्रसाद मार्क्सवादी नहीं थे। परंतु श्रमिक और कृषक की देन को भली-भाँति रेखांकित करते हैं। वे श्रम की महत्ता को प्रतिष्ठित करते हैं। चूँकि कवि जमीन से सदा जुड़ा रहा, इसलिए मजदूरों और किसानों की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है, आरोपित नहीं। धूल और धुएँ से भरी जिंदगी की व्यथा-कथा या उजास का जो चित्रण भवानी प्रसाद के यहाँ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने लिखा है—

''क्योंकि जानता हूँ मैं
सबने अपने प्रारंभिक परिवेशों में
सांद्र और निविड़ इन
गंधों को पिया है
और फिर जाने क्यों
भूल जाकर इन्हें
केवल धूल
और धुएँ को जिया है।''

—यथोपरि, पृ. 121-22

भवानी प्रसाद मिश्र का आग्रह रहा है—''गरीबों के हक में दो लड़ने का अधिकार हमें।'' इस तरह का आग्रह कवि को जन पक्षधरता के समीप लाता है। इस संदर्भ में कवि-समीक्षक बलदेव वंशी का विचार है—''कवि ने सत्ता, व्यवस्था, शोषक और पूँजीपति के 'खून सने' जबड़े देख लिए हैं और उन जबड़ों पर लगे खून को पहचान भी लिया है, जो करोड़ों-करोड़ों निरीह-निर्धन देशवासियों का है और कवि निश्चय ही इन निरीह-निर्धन के साथ है। उन्हीं में से एक है। इसलिए विचार, व्यंग्य से होती हुई उसकी वाणी, विरोध के पड़ावों को पार करती विद्रोह तक पहुँचती है।'' (भवानी प्रसाद मिश्र, पृ. 69)

कवि भवानी प्रसाद ग्रामीण संवेदना, सहज संवेदना के शब्द शिल्पी हैं। वे जाति-पाँति, धर्म-संप्रदाय के बंधन को अस्वीकार करते हैं। 'कालजयी' में अशोक के माध्यम से कवि की दृष्टि का आभास मिलता है। पुनः तक्षशिला की प्रजा के विद्रोह को किसान-मज़दूर विद्रोह के रूप में देखा जा सकता है। 'कालजयी' का युगीन संदर्भ प्रासंगिक है। समय की विसंगतियों को कवि ने अशोक के माध्यम से प्रकट किया है—

"अन्नहीन पेटों में दाने
वस्त्रहीन देहों पर धागे
हमने नहीं जुटाये तो हम
राजा होकर निपट अभागे।"

सीधी-सी बात है कि जिस देश में जनता भूखी रहे, नंगी रहे उस देश में किसी को शासक बने रहने का भला क्या अधिकार है। आज के संदर्भ में निम्न पंक्तियों का पाठ किया जा सकता है—

"आज प्रेम का पता नहीं है कहीं
बड़ी आपाधापी है
उत्तरदायी कौन
मुझे तो लगता है
शासन पापी है।"

यानी सत्ता की चापलूसी करने वाला व्यक्ति भवानी प्रसाद नहीं है। सत्ता को चुनौती देने वाले और अन्याय तथा अत्याचार का विरोध करने वाले व्यक्ति का नाम भवानी प्रसाद है। हिंदी साहित्य के इतिहास में भले ही उन्हें प्रगतिशील कविता की परंपरा में स्थापित न किया गया हो, परंतु उनकी रचनाओं में प्रगतिशीलता का अभाव नहीं है। प्रगतिशील तत्वों की भरमार है। यह जरूर है कि उन्होंने गला फाड़-फाड़कर प्रगतिशीलता का नारा नहीं लगाया। हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया। प्रेम, करुणा, ममता, समानता और विश्वबंधुत्व के मार्ग पर बाधा पहुँचाने वाले तत्वों की जमकर खबर ली है।

'सन्नाटा', 'सतपुड़ा का जंगल', 'गीत फरोश', 'बुनी हुई रस्सी' भवानी प्रसाद मिश्र की प्रसिद्धि को चार चाँद लगाने वाली रचनाएँ हैं। ये सभी लोकप्रिय भी हैं। इन कविताओं में कवि-प्रतिभा, भारतीय सभ्यता पर पश्चिम के भोगवादी प्रभाव, सरल अभिव्यक्ति, समसामयिक जीवन स्थिति आदि का चित्रण प्राप्त होता है। सांस्कृतिक विघटन और मूल्य-संक्रमण अराजक स्थिति में आ चुके हैं। ऐसे में लोक से जुड़कर कविताएँ लिखना प्रतिकूल परिस्थितियों को चुनौती देने के बराबर है। अपने समाज और काल के तमाम प्रश्नों से भवानी प्रसाद की कविताएँ मुठभेड़ करती हैं। लोक से संपृक्त रहती हैं। लोक से जुड़कर लिखी गई ये कविताएँ तीव्र जिजीविषा, अपूर्व आस्था और विश्वास का परिचायक बन जाती हैं।

भवानी प्रसाद की सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय रचना 'गीत फरोश' है। यह कविता सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रहार करती है तो प्रचलित अर्थव्यवस्था में कला और कलाकार की दुर्दशा पर भी प्रकाश डालती है। पाठक की गिरी हुई रुचि की ओर संकेत करती है तो आज के युग पर तीखा व्यंग्य भी करती है। समाज पतनोन्मुखी है। लोगों ने ईमान बेच दिया है। ऐसी स्थिति में भला कलाओं और कवियों का क्या महत्त्व होगा? कवि के लिए

ईमान है उसका गीत। वस्तुवादी, उपभोक्तावादी समाज में लोगों ने प्रेम, ईमानदारी, मानवता आदि गुन बेच डाले हैं तो गीत बेचने में ज्यादा संकोच, दुःख क्यों करें? जमाने की नब्ज को टटोलने के बाद कवि की अनुभूति अभिव्यक्त होती है—

"जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको;
पर बाद-बाद में अक्ल जगी मुझको,
जी, लोगों ने तो बेच दिए ईमान
जी, आप न हो सुनकर ज्यादा हैरान।
मैं सोच-समझकर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।"

—गीत फरोश, पृ. 166

इस कविता के माध्यम से भवानी प्रसाद मिश्र के दो व्यक्तित्व उभरे हैं—एक मस्ती का और दूसरा पस्ती का। मस्ती और पस्ती की बातों को कवि बिना किसी दुराव-छिपाव के बोल जाता है। दरअसल, वह अपने अनुभवों की बात करता है। पूँजीवादी समाज में मध्यवर्ग की स्थिति, कवि-कलाकार-चिंतक-विचारक की वाणी कैसे बिक जाती है, उसकी ओर भी इंगित किया गया है। धन के पीछे अंधी दौड़, भागमभाग तथा स्पर्धा के चलते जमाने में महामारी फैली हुई है। कवि इससे परिचित है। 'सख्त सरदर्द' है यह जमाने का। इसलिए कवि ने ऐसे भी गीत लिखे हैं जो कुछ घंटों के लिए दर्द को भुला देते हैं।

संघर्ष पूर्ण परिस्थितियों में समाज के कर्णधारों द्वारा कवि-साहित्यकारों को सदा उपेक्षित रहना पड़ता है। उनकी विवशताओं को भवानी प्रसाद ने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है—

"है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप
क्या करूँ, मगर लाचार हारकर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।"

—यथोपरि, पृ. 167

संक्षेप में, 'गीतफरोश' का व्यंग्य बहुमुखी है, सर्वतोगामी है, शाणित है।

कवि भवानी प्रसाद मिश्र की क्रांति का स्वरूप औरों से भिन्न है। हिंसा के बदले हिंसा का नाम क्रांति नहीं है। उनकी दृष्टि में शत्रु को मारकर नहीं उसे समझाकर गले लगाने में ही विजय होती है। सहानुभूति, संवेदना, प्रेम, करुणा, आदि भवानी भाई की क्रांति के साधन हैं। इन्हीं तत्वों से एकता स्थापित हो सकती है। अभिन्नता कायम हो सकती है। भारतीय संस्कृति के मूलमंत्र 'वसुधैव कुटुंबकम' की ओर अग्रसरित हुआ जा सकता है। इन तत्वों को कमजोर न समझें। उन्हें कमतर न आँकें। परमाणु ऊर्जा के बल पर किसी देश को बचाया नहीं जा सकता। देश का विकास नहीं हो सकता। देश का वास्तविक विकास होता है जब

शांति, मैत्री और संप्रीति कायम करें। भाईचारा फले-फूले। सौहार्द और सौमनस्य को इस पूरी प्रक्रिया में भाषा यानी अपनी भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। संस्कृति की वाहिका होती है भाषा। यह जाति और संस्कृति की अस्मिता भी होती है। अपनी भाषा के प्रति उदासीन होने का मतलब है अपनी संस्कृति से उदासीन होना। भवानी प्रसाद मिश्र लिखते हैं—

"मेरे फूल बहुत बतियाना अंग्रेजी में
बंद करो
यदि माली समझा नहीं निरर्थक
मर जाओगे।"

—गाँधी पंचशती, पृ. ...

कहना न होगा कि भवानी प्रसाद मिश्र व्यापक जीवन के चितेरे हैं। अपने समय के सवालों को बड़ी शिद्दत के साथ उठाते हैं। सवाल खड़े कर शांत नहीं रह जाते बल्कि उनके जवाब समाज और संस्कृति में ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। मनुष्य और मनुष्यता विरोधी शक्तियों की चालाकियों को उघाड़ते हैं। यथास्थितिवादिता को बदलने का सपना देखते हैं और समाज को भी दिखाते हैं। एक स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु कटिबद्ध दिखाई पड़ती हैं भवानी भाई की कविताएँ। अत: इस दृष्टि से उनके रचना-समग्र का विवेचन अपेक्षित है। भवानी भाई की कविताओं को केवल व्यक्तिवादी विचारधारा में सीमित न किया जाये। न ही, उनकी कविताओं के आधार पर प्रकृति के रूप-सौंदर्य को ही उद्घाटित किया जाए। उनके रचना-समग्र में निहित जीवन के व्यापक संदर्भों, परिप्रेक्ष्यों और विविध संदर्भों को उज्जीवित करने की आवश्यकता है।

चिन्तन के धरातल पर कुँवरनारायण और सीताकांत की कविताएँ

कुँवरनारायण (1927) और सीताकांत महापात्र (1937) भारतीय साहित्य के अनन्य रचनाकार हैं। दोनों रचनाकार समकालीन हैं और भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत भी। भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध कवियों में कुँवरनारायण एवं सीताकांत के नाम अग्रोच्चरित हैं। कुँवरनारायण के प्रबंध काव्य 'आत्मजयी' में नचिकेता, वाजश्रवा, यम आदि पौराणिक पात्रों के रूप में मिथकीय चिंतन संचित हुआ है तो सीताकांत के 'लौट आने का समय', 'वर्षा की सुबह', 'समय का शेष नाम' आदि कविता-संकलनों में कृष्ण, भीष्म, जरासंध, रावण और पौराणिक पात्रों को युगानुकूल रूप प्राप्त है। इन पौराणिक पात्रों की स्थूल कल्पना में दोनों कवियों ने अपनी ओर से उतना ही जोड़ा या घटाया है जो युगीन संदर्भ के लिए आवश्यक था। आज वैचारिक उथल-पुथल का दौर है। ऐसे में नैतिकता की स्थापना के साथ-साथ नवीन जीवन-बोध एवं शाश्वत जीवन-मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा की बड़ी आवश्यकता है। आधुनिक जीवन की विषमताओं एवं विसंगतियों को उजागर करना आज के कवि का कर्त्तव्य है। मानव-जीवन के बुनियादी सवालों से जूझना कवि का दायित्व है। दोनों कवियों ने कर्त्तव्य एवं दायित्व का संपूर्ण निर्वहन किया है। ऊपरी तौर पर इनकी कविताओं का वाचन हो तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि दोनों कवियों ने जीर्ण-शीर्ण परंपराओं के प्रति अपार मोह प्रदर्शित किया है। परन्तु गहराई से देखा जाए तो कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक मात्र प्रतीक नहीं बल्कि आधुनिक चेतना के वाहक हैं जो नवीन दिशा की ओर उन्मुख करते हैं। कथ्य को युगानुकूल संदर्भ प्रदान करते हैं। जैसे—वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता आधुनिक चिंतनशील व्यक्ति का प्रतीक है। जीवन के ऐसे मूल्यों में जीना चाहता है जो केवल सुख नहीं सार्थकता का बोध भी करा सकें। उसके मन में अनेक प्रश्न कुलबुलाते हैं। स्वयं कुँवरनारायण के शब्दों में "तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति भर ही उसके लिए पर्याप्त नहीं। उसके अन्दर वह वृहत्तर जिज्ञासा है जो उसे साधारण प्राणी से विशिष्ट उन मनुष्यों की कोटि में रखती है जिन्होंने सत्य की खोज में अपने हित को गौण माना, कायिक जीवन को स्वप्न समझा, जिन्होंने ऐंद्रिय सुखों के आधार पर ही जीवन से समझौता नहीं किया, बल्कि चरम लक्ष्य के लिए जीवन अर्पित

कर दिया जो उन्हें पाने योग्य लगे।" (आत्मजयी, भूमिका, पृ. 3)। यह नचिकेता परंपराद्रोही है जिसमें शाश्वत प्रश्नों के प्रति बेचैनी है। जीवन की सार्थकता में ही व्यक्ति को स्थायी संतोष मिलता है। जीवन की यह अनुभूति किसी ऐसे जीवनमूल्य के लिए जीकर प्राप्त हो सकती है जो व्यक्ति को मर्त्य होते हुए भी किसी अर्थ में अमरता की प्रतीति हो सके—

विश्वासों से
या किसी विचित्र तर्क से ही
जीने को कोई अर्थ दिया जा सकता है
इतना विराट
इतना सुन्दर
इतना असह्य
जो शायद केवल मृत्यु तल
संदिग्ध क्षणों के बीच जिया जा सकता है
जो बाधित नहीं
मृत्यु से बल्कि आकलित हो।

—वही, पृ. 77-78

सीताकांत का नचिकेता जीवन और मृत्यु का अमोघ रहस्य जानना चाहता है। 'जारा शवर का गीत' शीर्षक कविता में जारा शबर के माध्यम से कवि की घोषणा ध्वनित होती है—

नचिकेता की तरह मैं जानना नहीं चाहता
जीवन और मृत्यु का अमोघ रहस्य
और न मैं सुनना चाहता हूँ
कुरुक्षेत्र में अर्जुन के विषाद का खंडित स्वर
ज्ञान, कर्म और भक्ति योग।

—सीताकांत, तीस कविता वर्ष, पृ. 167

ओड़िया के आदिकवि सारलादास के अध्ययन-मनन से सीताकांत को एक स्वस्थ परंपरा मिली तो कुँवरनारायण ने कठोपनिषद् से प्रभाव ग्रहण किया। दोनों कवियों ने मूलकथा को बिना बिगाड़े उसे आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया है। पौराणिक दिव्य कथा का पुनर्लेखन इनका उद्देश्य कभी न रहा। परंपरा में आधुनिकता का समावेश दोनों कवियों की मूल विशेषता रही है। जीवन, मृत्यु, मुक्ति, ईश्वर के सनातन प्रश्नों से कवि आंदोलित ही नहीं होता बल्कि जिज्ञासा एवं अशांत करने वाली व्यथा से भी भर जाता है। कुँवरनारायण का बाजश्रवा जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण रखने वाला है। वह वर्तमान का भोक्ता है। राजसिंहासन, राजमुकुट, सेना, अंतःपुर के बीच भरमाया हुआ है। यह नचिकेता को अस्वाभाविक लगता है। वह कहता है—

तुम हर जगह भूख-प्यास वाले साधारण प्राणी हो
जिसके मुकुट और सिंहासन पर
सूर्य की किरणें इस तरह पड़ रही हैं
कि तुम दिव्य दिखते हो... पर यह सारी शोभा
सूर्यास्त होते ही बिलख उठेगी।

—कुँवरनारायण, आत्मजयी, पृ. 6

सीताकांत की 'एक गीत कुब्जा के लिए' शीर्षक कविता में कवि भी आधुनिकता का स्वर अधिक मुखरित हुआ है—

तभी तो माँगता हूँ मुक्ति आज
अभिशप्त मथुरा के बंदीजन
तेरे चरण-रेणु स्पर्श कर
झर जाये जीवन का सारहीन निर्मोक
मिट जाये धूसरता, अंत हो मृत्यु का
और विभंग काल का।

—सीताकांत, अष्टपदी, पृ. 68

कुँवरनारायण एवं सीताकांत की मृत्यु-चेतना पर आलोकपात करें तो स्पष्ट पता चलता है कि दोनों ने मृत्यु संबंधी विचार अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किये हैं, मृत्यु क्यों? इस विषय पर बड़ी गहराई से कुँवरजी ने सोचा है। आज के दौर में मूल्य चुक रहे हैं, जीवन में विसंगति और विडम्बना का भयावह चेहरा उभर पड़ा हो तो 'मृत्यु के बाद' की स्थिति को समझना-समझाना उपेक्षित लगता है। कुँवरनारायण ने यम को मृत्यु का प्रतीक मात्र माना है। कवि के अनुसार यम उसके अंतर्मन में मौजूद मृत्यु का पौराणिक रूप है। यम क्रूर नहीं बल्कि दिव्य है। वह करुणा और वेदना से भरपूर है। कवि के शब्दों में—

पर नहीं
क्रूर ही नहीं
दिव्यता भी है इसमें
कहीं-कहीं करुणा भी...और वेदना भी...

—आत्मजयी, पृ. 63

कवि ने यम के प्रतीकत्व में पाश्चात्य अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुरूप काल या समय या मृत्यु-भय का प्रतीक माना है। उन्होंने नचिकेता, बाजश्रवा के चरित्रों की भाँति यम को भी एक अनुभूति मात्र के रूप में मानवीकरण के माध्यम से साकार रूप प्रदान किया है।

सीताकांत की मृत्यु-चेतना कहीं अधिक व्यापक है। सीताकांत को मृत्यु ने बार-बार आकृष्ट किया है। दूर से मृत्यु भयानक लगती है एक दुर्दमनीय शत्रु की तरह। पर वास्तव में वह परम सखा है। ओड़िया काव्य की मृत्यु-चेतना का प्रभाव सीताकांत पर था ही। सारलादास के 'महाभारत' में मृत्यु दुर्योधन के रक्तनदी संतरण में मृत पुत्र का शव रूप धारण

करके आती है तो भीमाभाई की 'स्तृति चिंतामणि' में प्रलय की चेतना बनकर। कभी यह मृत्यु मिथ्या की प्रहेलिका बनकर आती है तो कभी जीवन को निर्भय त्यागने का संदेश लेकर। आधुनिक ओड़िया कविता के कर्णधार राधानाथ के 'दरबार' काव्य में मृत्यु का जो स्वरूप चित्रित है उसका उन्नततर रूप प्राप्त होता है सीताकांत की कविता में।

मिट्टी में रूपांतरित मिट्टी का मनुष्य पुनः अपने उद्‌गम स्थल पर लौट जाने को बेचैन रहता है। तभी उसकी सारी बेचैनी को समाप्त करने के लिए परम मित्र बनकर मृत्यु मार्ग दिखाती है। मृत्यु जीवन की पूर्णता का बाधक बनकर नहीं, सहायिका बनकर आती है। कुँवरनारायण के यमराज की तरह सीताकांत का यम भी परम दयालु है—

मेरी परछाई में मौत बैठती है
अंधा कलाकार बन
मेरी परछाई की मुसकराती माया में बैठता है दुःख
दयालु दंडधर वह मेरा अनजपा मंत्र
मैं बढ़ता जो हूँ उसकी ही छाया में।

—लौट आने के समय, पृ. 68

स्वर्गद्वार (पुरी का श्मशान) मुखाग्नि आदि मृत्युलोक के संकेत वाहक हैं। कवि ने अपने पिता के अंतिम संस्कार के माध्यम से मृत्यु को पवन के रूप में चित्रित किया है। नाले की उत्कट गंध, खिला हुआ चाँद, सुरभिमय पुष्प की आवश्यकता है। मृत्यु कवि के लिए चील की भाँति निर्मम है तो शिशु की भाँति अबोध भी-

जाने कितनी दूर
मृत्यु का पतंग उदासी चील
परत दर परत बादल और आकाश
उन्मुक्त प्रांतर श्मशान और आकाश
कितने निर्मम, उदार और अबोध हैं दोनों
मृत्यु से कम नहीं हैं वे किसी भी तरह।

—सीताकांत, चढ़ेई रे तु कि जाणु, पृ. 78

अपने परम सखा के आगमन हेतु कवि प्रतीक्षारत है। उसकी विरहाग्नि से कवि हृदय दग्ध है। उसके विरह की तीव्र पीड़ा सहकर भी कवि प्रतीक्षातुर है। आत्मीय नहीं, परम आत्मीय, प्रियतम के स्वागत के लिए दत्तचित है—

क्या तुम्हें नहीं मालूम
मैं हूँ तुम्हारी प्रतीक्षा में
आँखें खुली हैं जिस दिन से

दबे पाँव चले आओ
पास बैठो ज़रा।

—मृत्यु, वर्षा की सुबह, पृ. 17

कुँवरनारायण और सीताकांत ने अपनी कविता में समसामयिक चिंतन और समकालीन संदर्भों को प्रस्तुत किया है। युग-चेतना को साकार किया है। दोनों कवियों ने अतीत, वर्त्तमान और भविष्य का सुंदर समन्वय किया है। मानवीय जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

समकालीन संदर्भों की सार्थक अभिव्यक्ति देने के लिए कवियों ने नई पीढ़ी के विद्रोह, अवज्ञा, अवहेलना, आर्त्तनाद, यंत्रणा का हाहाकार आदि को बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित किया है, भले ही दोनों के स्वर भिन्न-भिन्न क्यों न हो। कुँवरनारायण के शब्दों में—

एक स्तर पर
विद्वेष, क्रूरता, हिंसा, बेईमानी
सब कुछ इतनी संभव है कि स्वाभाविक लगे—
और उसी स्तर पर हममें से हर एक जी सकता है
पागलों की तरह
एक दूसरे से त्रस्त, पीड़ित और अपमानित।

—आत्मजयी, पृ. 7

सीताकांत ने भी अपने समय की नब्ज को टटोला है। युग-सत्य को पहचाना है। आधुनिक जीवन की पीड़ा, आर्त्तनाद, यंत्रणा के हाहाकार को सुनकर दुःखी होकर कहा है—

आर्त्तनाद, यंत्रणा के हाहाकार
सैकड़ों आरती, विषाद और क्षोभ
सहस्रों उसाँसें
लाखों प्रार्थनाएँ झगड़े।

—समय का शेष नाम, पृ. 159

कुँवरनारायण की कविताओं ने मनुष्य की तमाम स्थिति को जानने, समझने और जाँचने का कार्य किया है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त पारदर्शी है। सीताकांत को नामवरजी ने 'समय और शब्दों का कवि' कहा है तो कुँवरनारायण की कविताओं में समय के आरपार को स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। आज की स्थिति यह है कि अन्यायी, अत्याचारियों एवं शोषकों की पाँचों उँगलियाँ घी में हैं तो न्यायप्रिय, नैतिक सोच वाला व्यक्ति ही सबसे असुरक्षित महसूस करता है—

शायद उसी मुश्किल वक्त में
जब मैं एक डरे हुए जानवर की तरह
उसे अकेला छोड़कर बच निकला था खतरे से सुरक्षा की ओर
वह एक फँसे हुए जानवर की तरह

खूँखार हो गया था
जब आदमी आदमी नहीं रह पाता।

—सीताकांत, अपने सामने, पृ. 18

मनुष्य बनकर रह पाना युग की सबसे बड़ी चिंता है। मनुष्यता कराह रही है। संवेदनाएँ छीजती जा रही हैं। कवि-प्राण ऐसी स्थिति में संवेदनशील होता है। सीताकांत को भले ही अन्य भाषा के लोग भक्ति एवं अध्यात्म के कवि कहें परन्तु उनकी कविताओं में युग-सत्य जीवंतता प्राप्त करता है। जनता की दुरावस्था में, देश की प्रतिकूल परिस्थितियों में, सत्ता का कर्त्तव्य बनता है कि वह निष्पेपितों एवं अवहेलितों के उत्थान हेतु प्रयास करे। कुँवरनारायण की उपर्युक्त कविता में सत्ता नदारद है तो सीताकांत की निम्न पंक्तियों में भी—

मंत्री, राजा, कोतवाल, पारिपद वर्ग
सो रहे हैं क्या गहरी नींद में
पीकर कादंबिनी।

—किससे पूछूँ चोलो, पृ. 26

सीताकांत ने समय का यथार्थ रेखांकन किया है। 'गाँव का ऑपेरा' में कवि ने लिखा है—

कोमल सपने में देखे
रक्तपात, षड्यंत्र और ईर्ष्या का।

—स्नाई और टगर फूल, पद चिन्ह, पृ. 33

कुँवरनारायण क्रूर, अमानवीय, बर्बर सत्ता और अंधी व्यवस्था के विरुद्ध हैं जिसमें योद्धा कायर बने रहता है। संकटों को पहचानते हुए अपने चारों ओर के समाज का चित्रण करते हुए कवि ने अपनी पक्षधरता एवं प्रतिबद्धता दिखाई है—

उसकी लटकी हुई छाती धँसा हुआ पेट, झुके हुए कंधे वह
कौन है हमेशा जिसकी हिम्मत नहीं केवल घुटने तोड़े जा सके।

—आमने सामने, पृ. 62

आदिवासी संदर्भ सीताकांत में प्राणवंत हैं तो कुँवरनारायण में उसका अभाव-सा परिलक्षित होता है, क्योंकि सीताकांत का अनुभव व्यापक है एवं उसका परिप्रेक्ष्य वृहत् है। निम्न पंक्तियों मे सीताकांत की साहित्यिक प्रतिबद्धता दृष्टव्य है—

मैले कुतरे फटे कपड़े के नीचे
गोल-मटोल चाँद दिखता है
सृष्टि का आदिम चाँद
किस उत्सव से भरती हैं दशों दिशाएँ
मूक इतिहास रोता है बच्चों की भूख से। **—समय का शेष नाम, पृ. 105**

कुँवरनारायण बीसवीं शती की क्रूर शक्तियों के विरुद्ध कविता के हस्तक्षेप को सफल हथियार मानते हैं तो सीताकांत कविता की शक्ति एवं सीमा को समझते हैं—"उठी हुई तलवार या चाकू को उनके खोल में लौटा सकती है? रोक सकती है रास्ते की मार-धाड़ को? '...परन्तु कविता निरी लाचार भी नहीं होती कम से कम वह दूसरों की आँखें खोल सकती है। दिखा सकती है।" ('अनेक शरद' की भूमिका से)

कुँवरनारायण एवं सीताकांत की कविताओं में जीवन और मृत्यु के अनेक रंग-रूप विद्यमान हैं। जीवन के अनेक स्तरों एवं आयामों को भारतीय रंग-रूप में ढालकर चित्रित किया गया है। दोनों के लिए जीवन ही सर्वोपरि है। आलोच्य कवियों की कविताएँ हमें आशान्वित करती हैं, संभावनाओं के अनंत द्वार उन्मुक्त करती हैं। एक नई दुनिया के वातायन खोल देती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आस्था के भाव जाग्रत करती हैं—

पल भर में सामने स्वर्ग दिखेगा। अँधेरे में चारों ओर
रोशनी फैल जाएगी। शरद का सूना आकाश
रूप रंग से दमक उठेगा। चहुँ ओर जीवन चमक उठेगा।

—समय का शेष नाम, पृ. 49

कुँवरनारायण चिंतक कवि के रूप में ख्यात हैं तो सीताकांत की कविताओं में दर्शन का सूक्ष्मजाल है। दोनों की कविताओं में राजनीतिक मताग्रह का अभाव है। कविता की समझदारी के बाधक के रूप में राजनीतिक मताग्रह जाना-बूझा तत्व है। 'आत्मजयी' में कुँवरनारायण की मृत्यु चेतना और सीताकांत की मृत्यु चेतना अथवा उनके जीवनबोध में काफी साम्य हैं। 'नियति' को तोड़ना दोनों रचनाकारों की प्रबल इच्छा है। 'दासता से मुक्ति' दोनों रचनाकारों का उद्देश्य है। दासता चाहे विचार के धरातल पर हो अथवा काव्य परंपरा के संदर्भ में, सर्वथा त्याज्य है। कुँवरनारायण और सीताकांत की कविताओं में एक 'अचल मीन' सदा विद्यमान रहता है। दोनों कवियों ने अपने रचना-संसार में मनुष्य एवं उसके मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। कुँवरनारायण ने प्रबंधात्मक कृतियों में जिस विचारधारा एवं दर्शन के धरातल को स्पष्ट किया है, सीताकांत ने उसे अपनी छोटी-छोटी कविताओं में पिरोया है।

❑❑❑

सामाजिक हलचलों के बीच समकालीन हिन्दी कविता

1970 के बाद भारत में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा हुई जयप्रकाश नारायण राजनीति में उभरकर सामने आये। राममंदिर-बाबरी मस्जिद का विवा गहराने लगा। गुजरात में दंगे हुए। आतंकवाद के क्रूर पंजे में दुनिया के देश कराहने लगे एतद्पूर्व जल, जंगल, जमीन की सुरक्षा हेतु चिपको मूवमेंट तथा नर्मदा बचाओ आंदोलन हो चुके थे। सोवियत संघ के विघटन का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। जातिवादी समीकरण बदल रहे थे तो भूमंडलीकरण की आंधी स्थानीकता को उखाड़कर वैश्वीकरण को स्थापित करने लगी। उदारीकरण, निजीकरण की नीतियों में पूँजी का महत्त्व बढ़ने लगा। बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। भ्रष्टाचार सर्वव्यापी हो गया। सार्वभौमिक स्वार्थपरता का समय आ पहुँचा। ऐसा समय आ गया है कि हर एक चीज का चाहे नैतिक हो या भौतिक, एक बाजार मूल्य बन चुका है। सभी उस बाजार-मूल्य से नियंत्रित हो रहे हैं। आश्चर्य की वात है कि कोई आंदोलन नहीं हुआ है। उथल-पुथल जरूर मची है समाज में। हलचलें हुई हैं। भगदड़ मची है। शोरगुल सुनाई पड़े हैं। समाज डगमगाता और हिलता-डुलता पाया गया। खलबली भी मची है। आंदोलन संघाटित नहीं हुए। परन्तु हिन्दी के समकालीन कवि बेचैन रहे हैं। उनके भाव आंदोलित हुए हैं। वह उद्वेलित हुआ है। प्रतिकूल परिस्थिति में उसने संघर्ष किया है। मनुष्य और मनुष्यता विरोधी ताकतों की जमकर खबर ली है। माना कि उसकी कमजोरियाँ हैं, उसके अंतर्विरोध हैं, सीमाएँ भी हैं। बावजूद इसके, समकालीन हिंदी कवि के उद्‌देश्य को कमतर नहीं आँका जा सकता है। तमाम सामाजिक हलचलों के बीच तीन-चार पीढ़ियों द्वारा रची जा रही समकालीन हिंदी कविता के स्वरूप पर सामान्य चर्चा अपेक्षित है। कवियों की तीन-चार पीढ़ियाँ इस समय सक्रिय भर नहीं हैं बल्कि उनमें वैविध्य भरपूर हैं। सर्वाधिक विविधता पाई जाती है हमारे युवा और युवतर साथियों के सृजन-जगत् में। अब हमें देखना है कि जनता में घबराहट फैलने के कारण जो खलबली मचती है उससे कवि-प्राण कहाँ तक और कैसे प्रभावित हुए हैं? प्रभावित हुए भी हैं या तमाम हलचलों के बीच रहकर भी 'कालजयी अवधूत' की भूमिका अदा करते रहे हैं—यानी न उधो का लेना न माधो का देना।

समकालीन कविता अपने समय और समाज की खामोशी को दर्ज करने वाली कविता है। प्रतिकूल समय और संकटों से घिरे मनुष्य की त्रासदियों को अंकित करने वाली कविता है। सूचना-प्रौद्योगिकी, मीडिया, आतंकवाद, धर्म, अर्थ और बाहुबल पर आधारित राजनीति, पूँजी, बाजारवाद, भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव, पर्यावरण-संकट, नारी-दलित-आदिवासी चिंता, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार आदि विषयों से समकालीन कविता अछूती न रही। बल्कि समकालीन कविता में अपने समय के विरोध में खड़े होने के लिए ललकार है। अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करते हुए मनुष्य के पक्ष में खड़े होने के लिए आग्रह है। हिंसक बर्बरता, बाजार की चालाकियों, गुलामी आदि के विरोध में खड़ी हैं समकालीन हिंदी कविता।

समाज में ज्यों-ज्यों पूँजी का वर्चस्व बढ़ता है संवेदन का त्यों-त्यों क्षरण होने लगता है। पूँजी से सामान खरीदा जाता है तो बात ठीक है लेकिन पूँजी से मानव मूल्यों, नाते-रिश्ते, संवेदनाओं को भी खरीदने की जद्दोजहद है। बहुत पहले मुक्तिबोध ने कहा था—

"कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता"

पूँजी का सीधा सम्बन्ध बाज़ार से है। यह वह स्थान है जहाँ पूँजी फलती-फूलती है। आज पूरा संसार बाज़ार बना हुआ है। यहाँ पूँजी का खेल-तमाशा खूब चलता है। तीसरी दुनिया के लोग इस बाज़ार के दंश से पीड़ित हैं। बाज़ार की संस्कृति से सर्वाधिक त्रस्त हैं। बाज़ार सबसे पहले मनुष्य की बुद्धि और सोचने-समझने की शक्ति को पंगु बनाने का प्रयास करता है। प्रतिरोध की शक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। उसका दावा है कि वह आपकी भलाई को आपसे ज्यादा समझता है। इसलिए सोचना नहीं है, विचार करना भी नहीं है। विरोध तो करना ही नहीं है। बस, बाज़ार जैसा चाहे, वैसा करते चलो। तमाम अन्य चीजों की तरह विचारों का अंत भी घोषित कर दिया गया है। समकालीन हिंदी कवि ऐसी स्थिति से आहत होता है, मर्माहत भी। सच है कि बाज़ार आज दुनिया का यथार्थ है। उससे आँखें नहीं बचा सकते। कभी दुनिया में बाज़ार हुआ करता था। आज, बाज़ार में दुनिया है। बाज़ार जो कभी खुली जगहों पर लगता था, आज बंद मॉलों में आ गया है। यहाँ न धूप है, न धूल। केन्द्रीय शीत-ताप नियंत्रित व्यवस्था। सामानों से पटा हुआ है बाज़ार, पर, आम आदमी की पहुँच के बाहर। हमारे समय के सबसे बड़े कवि केदारनाथ सिंह ने अमरूद के बहाने बाज़ार के उपेक्षितों के बिंब अंकित किये हैं—

"अमरूद फिर आ गये हैं बाज़ार में
और यद्यपि वहाँ जगह नहीं थी
पर मैंने देखा छोटे-छोटे अमरूदों ने

सबको ठेल-ठालकर
फुटपाथ पर बना ली
अपने लिए थोड़ी जगह।''

केदारजी की दुनिया कविता की है। लेकिन यह दुनिया बाज़ार से मुक्त कहाँ है? कविता की टक्कर, भले ही हल्की क्यों न हो, बाज़ार से होती है। इस टक्कर से कवि को रोमांच होता है। रोमांच इसलिए कि सर्वशक्तिमान बाज़ार, प्रभुत्व सम्पन्न बाज़ार से टकराव विचारों के जीवित होने के साक्ष्य मिलते हैं। अभी भी उससे टकराने की हिम्मत है। यहाँ हार या जीत का उतना मतलब नहीं है जितना कि टकराने का है। कवि के शब्दों में—

''अब यह कैसे बताऊँ
लेकिन छिपाऊँ भी तो क्यों
कविता और बाज़ार की एक हल्की सी टक्कर
रोमांचित करती है मुझे''

समकालीन कविता का एक जरूरी नाम है अरुण कमल का। उनकी कविताओं में बाज़ार का सच है। बाज़ार का छलछद्म भी मौजूद है। जीवन के विविध संदर्भ इस बाज़ार से जुड़े हैं। भाग्य-फल बेचने वाला ज्योतिषी बीच बाज़ार में लोगों को लूटता है, परन्तु वही दो कौड़ी की मामूली कुंजड़िन से खुद सरे बाज़ार में लूट लिया जाता है। अरुण कमल की दृष्टि में बाज़ार लूट का स्थान है। नारा है बाजारवाद का—लूटो नहीं तो लूट लिये जाओगे। बाज़ार की जादुई कला और उसके माया-जाल को उघाड़ते हुए अरुणजी लिखते हैं—

''मेरे पास न पूँजी थी न पाप
मैं बाट भी न था कि हाट के आता काम
न पाप कमाया न पुण्य न ही रहा अक्षत
दिनभर घूमता ढली देह लिए लोटा धाम
लेकिन वहाँ जहाँ घर था
मेरा घर नहीं था।''

कवि मंगलेश डबराल कहते हैं—''बाज़ार का एक ठोस आध्यात्मिक आधार है—वह जिस तरह दिखता है उस तरह होता नहीं।'' बाज़ार को उपभोक्ता चाहिए। एक ऐसा उपभोक्ता जो प्रतिरोधविहीन हो। नीलेश रघुवंशी के यहाँ बाज़ार भिन्न रूप में प्रस्तुत है। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावादी समय में नीलेश की चिंता है—

''जहाँ हर रोज दो हजार पाँच सौ कारें बेची जा रही हैं
पाँच हजार वाशिंग मशीनें दुकानों से अपने ग्राहकों के घर भेजी जा रही है
पच्चीस हजार टीवी बेडरूम में पहुँच रहे हैं

अगर आप बेरोज़गार हैं तो
निश्चय हीं यह सोचने की बात है।''

युवा कवि कृष्णमोहन झा की कविताओं में आस्था और मूल्य जहाँ बेचे जाते हैं उसे बाज़ार कहा गया है। एक बड़ी चिंता है यह कि मनुष्य ही नहीं ईश्वर तक को यानी मानवीय आस्था, विश्वास को बाज़ार प्रॉडक्ट बनाकर बेचने लगा है—

''अब भग्न हृदय पानी के लिए छटपटाने लगता है
पूजा घरों में लग जाता है नारियल का ढेर
मंत्र बन जाते हैं शोर
बीमार लोगों की बाँह पर तावीज बँध जाती है
मुक्ति के विभिन्न मॉडलों से घिर जाता है बाज़ार
और हरेक चौराहे पर ईश्वर बिकने लगता है।''

बाज़ार के संदर्भ में उसकी हलचलों को शायद ही ऐसा कोई समकालीन कवि होगा जिसने बाज़ार की साजिशों का खुलासा न किया हो। इस प्रसंग को यानी हलचल को विराम देने के लिए कवि केदारनाथ सिंह की 'अकाल में सारस' की कुछ पंक्तियों में निहित प्रतिरोध को देखा जा सकता है। फसल खलिहान में पहुँचे और दाना बनकर सीधे बाज़ार में। यही तो इच्छा है बाज़ार की। बाज़ार पहुँचते ही दाना एक महज वस्तु बन जाता है। इसलिए प्रतिरोध है—

''नहीं
हम मंडी नहीं जायेंगे
खलिहान से उठते हुए
कहते हैं दाने''

आज हमारे समाज में संवेदनशून्यता, निस्संगता, स्वार्थपरता गहरे रूप में मौजूद हैं। सामाजिक व राजनीतिक अव्यवस्था इस कदर फैल चुकी है कि हत्यारा खुलेआम घूमता-फिरता है और निरपराध को कारागार में ठूँस दिया जाता है। हत्यारे को केवल मदद नहीं सांविधानिक सुविधाएँ भी मिलती हैं। सत्ता की ओर से उसे तमाम साधन भी जुटाए जाते हैं। अरुण कमल लिखते हैं—

''देखो हत्यारे को मिलता राजपाट सम्मान
जिनके मुँह में कौर मांस का उनको मगही पान'' **(सबूत) और भी**
''और ऐसा अक्सर देखा गया है कि जो जितना भ्रष्ट और व्यभिचारी है
वह उतना ही जूते उतारकर भीतर बुलाने को हावी'' **(पुतली में संसार)**

समाज में धर्म के नाम पर सत्ता और क्रूरता का व्यापार जारी है। धर्म की कट्टरता के

पीछे घृणित मानसिकता और उद्‌देश्य निहित हैं। लोग विलुप्त को खोजने में व्यस्त हैं। उनके सामने खड़े यथार्थ को झुठलाने लगे हैं। विष्णु नागर के शब्दों में—

"वे इन दिनों विलुप्त मंदिरों
विलुप्त नदियों
विलुप्त शत्रुओं
विलुप्त मित्रों की खोज में लगे हैं
ताकि जो आँखों के सामने हैं
उनका विलोपन किया जा सके"

आज धर्मगुरु हत्यारे बन गये हैं। कुछ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के धर्मगुरु का दुष्कांड सामने आया था। धर्म के नाम पर रक्तपात, धार्मिक उन्माद, धर्मान्धता आदि सामाजिक व्याधि बन चुके हैं। विष्णु नागर के शब्दों में—

"आजकल धर्म इतना अच्छा चल रहा है कि
शब्दकोश में हत्यारे का अर्थ धर्मगुरु हो गया है"

सांप्रदायिक हिंसा से समाज पीड़ित है। अयोध्या की घटना ने काफी उद्वेलित किया है। कवि विनोद दास ने लिखा है—

"अयोध्या की आत्मा से
पोर-पोर रिस रहे हैं
और मैं जानता हूँ
कि अयोध्या को एक अच्छे डॉक्टर की जरूरत है।"

गुजरात के विक्षोभ पर मंगलेश डबराल की कविता का अंश है—

"और जब मुझसे पूछा गया तुम कौन हो
क्या छिपाए हुए हो अपने भीतर एक दुश्मन का नाम
कोई मजहब को तावीज़
मैं कुछ कह नहीं पाया मेरे भीतर कुछ नहीं था
सिर्फ एक रंगरेज, एक मिस्त्री, एक कारीगर, एक कलाकार, एक मजदूर।"

—गुजरात का विक्षोभ

सांप्रदायिकों को कोसते हुए कवि नरेंद्र पुंडरीक ने एक कविता लिखी है 'दो लोग' जो उनके 'नंगे पाँव का रास्ता' कविता संकलन में संगृहीत है—

"ये दो लोग
रातोंरात काटकर रख देते हैं दो मुल्क
बस्ती चीखती है

दुकानें लुटती हैं
देखते-देखते
लाशों से पट जाते हैं शहर"

11 सितंबर, 2001 की घटना ने पूरी दुनिया के लोगों को आतंकित कर रख दिया। एक ओर सत्ता तो दूसरी ओर उसे चुनौती देने वाली आतंकवादी शक्तियाँ। कसूरवार चाहे कोई हो, परंतु कराहती है मानव-जाति। लीलाधर मंडलोई ने 'मगर एक आवाज' में लिखा है—

"कहीं समर्थन का ढोंग तो कहीं चेतावनी
कभी वापसी के नाट्य प्रदर्शनी की अब
पंख टूटे पक्षियों की तरह झरते आदर्श
जीने की सारी कवायद आतंक के वैभव में।"

'स्त्री मेरे भीतर' के कवि पवन करण ने आतंकवादियों की बर्बरता को लताड़ा है। गुजरात के दंगों के दिनों में नारी पर हुए अत्याचार को चित्रित किया है—

"छीनकर गोद से मेरे बच्चे को पछीट दिया गया सड़क पर"

नीलेश ने भी गुजरात की कलंकित घटना को, आतंकवादियों की क्रूरता को, सईदा की दहशत को चित्रित किया है 'पानी का स्वाद' में। सौहार्द कामना करते हुए वह शांति-यात्रा में शामिल होकर कहती है—

"पकड़ाती हूँ नन्हें हाथ में तख्ती शांति अपील की
करती हूँ प्रार्थना
कभी न शामिल हो मेरा बेटा उन्मादी भीड़ में"

सांप्रदायिकों से एकांत श्रीवास्तव का निवेदन है—

"इसके ऊपर मत दौड़ाओ
अपने घोड़े
मत करो अपना यज्ञ
मत फेंको खून से सना चाकू।"

समाज में अमानवीयता दिनोंदिन चंद्रकला की तरह बढ़ती जा रही है। सामाजिक विसंगतियाँ मुँह बाएँ खड़ी हैं, भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा है चारों ओर। पर एक सन्नाटा पसरा हुआ है। बाबा नागार्जुन ने बहुत पहले 'प्रेत का बयान' में लिखा है—

"कैसा समय कि छुट्टा साँड
गाँवों की नाँद में सींग मार रहा है

और कोई बोल नहीं सकता
कैसा समय कि खून के छींटों से भरा सफ़ेद घोड़ा
गाँवों को रौंदता जा रहा है
और कोई रोक नहीं सकता
चुप क्यों है सारा मोहल्ला
चुप क्यों है सारी दुनिया
तुम चुप क्यों हो?"

इस प्रतिकूल समय में कोई भी अंधा, लंगड़ा, बहरा, बेघर, पागल हो जाए तो
विस्मय न होगा। इस समय में समाज को बचाना जरूरी है। मनुष्य को बचाना आवश्
हेमंत कुकरेती तमाम समकालीन कवियों की भाँति घर बचाना चाहते हैं ताकि बचा र
समाज और बची रहेगी इंसानियत—

"एक-एक करके सारे सूर्य सागर में
दफ़्न हो जाते हैं
वह पहला सोमवार है या साल का आखिरी दिन
समय को याद रखना कष्ट में होना है
उससे छिपकर मैं रोज आता हूँ
वह रोज बीत जाता है
फिर भी मैं बचा हूँ
तो बचा है मनुष्य।"

आज की कविता की चिंता के केंद्र में राष्ट्र, स्वतंत्रता, मनुष्य, युद्ध आदि तमाम प्र
हैं लेकिन सबसे बड़ा प्रश्न मनुष्य होना चाहिए। इसलिए कि मनुष्य को ही दाँव पर लगा
जा रहा है ताकि मनुष्यता ही न बचे। कवियों की चिंता है कैसे मानवता को बचाया जा

आंध्र प्रदेश हो या बंगाल, महाराष्ट्र हो या पंजाब ऋणग्रस्त किसानों की आत्मह
पूरे देश के सहृदयों में उथल-पुथल मचाती है। अक्सर यह आरोप समकालीन कवियों प
लगाया जाता है कि किसानों की दुर्दशा के चित्र नहीं मिलते हैं। खुशी की बात है कि यु
कवियों ने इस विषय पर भी कविताएँ लिखी हैं। अभय मौर्य, रमेश पांडेय, मनोज कुमार झ
आदि के नाम इस दिशा में महत्त्वपूर्ण हैं। समकालीन कवियों में विनोद दास का नाम भी आता
है। किसानों के बारे में विनोद दास लिखते हैं—

"वे चाहते हैं
थोड़ी पृथ्वी
थोड़ा पानी
और खुला आकाश

वे और कुछ नहीं चाहते
सिर्फ चाहते हैं
जब कोई चिड़िया
उनके आँगन से उड़े
उनकी चोंच में दबा हो
कम-से-कम एक अदद दाना।"

एक मामूली किसान की व्यथा और उसके छोटे-छोटे से सपने को भी पूरा न कर पाने की त्रासदी को कृष्णमोहन के शब्दों में समझा जा सकता है जो किसान पुआल पर लेटा हुआ अकेला है—

"कमाऊ-पूत के पहली तनख्वा के पैसों से
सन्त नारैन भगवान की कथा सुनने की कामना
उसके साथ मरेगी और जायेगी साथ-साथ
उसके साथ थोड़ा हम भी मरेंगे।"

नरेश सक्सेना हों या राजेश जोशी, वीरेन डंगबाल हो या भगवत रावत, देवताले हों या बोधिसत्व—इनकी कविताओं में किसान जीवन शून्य कहाँ है? रमेश पांडेय ने किसानों को नये रूप में देखने की ख्वाहिश जाहिर की है—

"मुझे अच्छा नहीं लगता
मेड़ पर बैठकर
सिसकता किसान
अच्छा होता
अब सुबह शाम वह
पुरबी कुएँ की जगत् पर
घिसता अपनी कुल्हाड़ी।"

विदर्भ के किसान जो आत्महत्या के लिए विवश थे। उनके बारे में मनोज कुमार झा ने 'तटभ्रंश' शीर्षक कविता में लिखा है—-

"आँगन में हरसिंगार मह-मह
नैहर की संदूक से माँ ने निकाला था पटोर
पिता निकल गये रात धाँगते
नहीं मिली फिर कहीं पैर की छाप।
....
उसी पेड़ की डाल से झूलती मिली परछन की
जिसके नीचे सुस्ताता था गमछा बिछाकर।"

सामाजिक हलचलों में और भी तमाम विषय आते हैं, जैसे—दलित, आदिवासी, नारी, पर्यावरण, महँगाई, अपसंस्कृति आदि। कोई माने या न माने ये सभी विषय बाज़ार से संबंधित हैं। बाज़ार की प्रत्यक्ष या परोक्ष भूमिका के चलते ये विषय खूब उभरे हैं। बाज़ार के चलते आज साहित्य और मीडिया के केन्द्र में स्त्री-देह, गरीब, दलित या सदियों से जंगल में निवास करने वाले आदिवासी आ गये हैं। समकालीन कविता के इस दौर में बाज़ारवाद, भूमंडलीकरण ने वजूद खोते मनुष्य को नई सोच के लिए प्रेरित किया है।

आदिवासी समाज की स्थिति निर्मला पुतुल चित्रित करती हैं। वह बाज़ार के भँवरजाल में पहचान खो चुके मानव की चिंता व्यक्त करती हैं—

"बाजार की तरफ भागते
सब कुछ गड्मगड्ड हो गया है, इन दिनों यहाँ
उखड़ गये हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़
और कांक्रीट के पसरते जंगल में
खो गई है उसकी पहचान"

दलित चिंतन भी बदलते सामाजिक आर्थिक परिदृश्य में उपभोक्ता की हिमायत करने लगा है—

"बाजार में सटी
झोपड़ पट्टियों की ये बच्चियाँ
बिकाऊ हैं भाई जी
भूखी और दुःखी हैं तो क्या
कपड़े साबुत नहीं हैं तो क्या, इनके पास
अपना जिन्दा शरीर तो है
ये शरीर सस्ते हैं, भाई जी।"

मुक्त बाज़ार का आर्थिक दबाव स्त्री-विमर्श को भी प्रभावित कर रहा है। सबसे निचले पायदान के लोगों के श्रम और देह को निचोड़कर उन्हें खोखला और वीरान बनाने में बाज़ार की भूमिका कम नहीं है। तीसरी दुनिया की सरकारों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का रिश्ता भड़ुआ-ग्राहक का संबंध है—

"जल्दी ही देश में कई डिज्नीलैंड होंगे
जल्द ही पूरा देश एक डिज्नीलैंड होगा
क्या आशा करूँ कि उसके बाहर मेरा घर होगा।"

—**कात्यायनी, दुर्गद्वार पर दस्तक**

समकालीन कवि जानता है कि यह काल बाज़ारों का है। नामे और खाते (डेबिट व क्रेडिट) के तुलन-पत्र को मिलाने का है। लेकिन ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी 'पानी' अर्थात् जीवन का आधार प्रेम थोड़ा-सा सही, बचा हुआ है। 'टॉलस्ताय और साइकिल' में केदारनाथ सिंह लिखते हैं—

"पर चिंता की कोई बात नहीं
यह बाज़ारों का समय है
और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत-से
मैं हमेशा मौजूद हूँ।"

बाज़ारोन्मुखी दुनिया से कवि भिन्न होता है। तभी तो वह कवि है। बाज़ार के वर्चस्व को चुनौती देते हुए, मानवीय संवेदनाओं को जीवित रखने के लिए केदारनाथ सिंह लिखते हैं—

"मोमबत्ती की रोशनी में
मैं लिखता रहा कविता।"

कविता लिखना यानी संवेदनाओं को जीवित रखना और संवेदनायें बची रहेंगी तो मनुष्य बचा रहेगा और उसकी प्रतिरोध शक्ति भी। समकालीन हिन्दी कविता का यह सबसे बड़ा सरोकार है जिसे बार-बार उद्घाटित करने की आवश्यकता है।

कहना न होगा कि समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक जीवन की तमाम हलचलों की काव्यिक अभिव्यक्ति उपलब्ध है। इससे समकालीन कवियों की जागरूकता और प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है।

□□□

समकालीन कविता में पर्यावरण-चेतना

प्रकृति, वायुमंडल, आकाश एवं जलराशि से पर्यावरण निर्मित है। यह न तो मनुष्य मात्र क है और न ही विशिष्ट वर्ग के मनुष्य का। यह प्राणी मात्र का है। भूमंडलीकरण के दौर में औद्योगिक क्रांति के नाम पर प्रकृति को विकृत किया जा रहा है। पर्यावरण को प्रदूषित कि जा रहा है।

पर्यावरणीय चिंता, चेतना व संवेदना को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय बहुगुणा जी को है। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए अनेक सफल प्रयास किये हैं। 'धरती की पुकार' को भल कैसे भुलाया जा सकता है? कवि त्रिलोचन के नाम से भला कौन अपरिचित है, उनकी तम कविताओं में पर्यावरण चिंता और चेतना प्रतिध्वनित हुई है। गंगा के प्रदूषण को इ प्रगतिशील कवि ने संस्कार प्रदूषण के अर्थ में स्वीकार किया है। 'नदी : कामधेनु' शीर्ष कविता में त्रिलोचन लिखते हैं—

> *"नदी ने कहा था : मुझे बाँधो*
> *मनुष्य ने सुना और*
> *आखिर उसे बाँध लिया*
> *बाँधकर नदी को*
> *मनुष्य दुह रहा है*
> *अब वह कामधेनु है।"*

गंगातट मायावी बाज़ार बना हुआ है। बाज़ार खुद वहाँ पहुँच चुका है। मछलियाँ मर हुई इच्छाओं की तरह उतराई गई हैं। छल, कपट, धोखाधड़ी और विद्वेष के वातावरण में बाज़ार पसरा हुआ है। नदियाँ नाले में तब्दील होती जा रही हैं। नदियों को पूर्णतया प्रदूषित किया जा रहा है। वीरेन डंगवाल की कविता का एक छोटा-सा अंश है—

> *"यह बूचड़खाना की नाली है*
> *इसी में होकर आते हैं नदी के जल में*
> *खून, चर्बी, रोएँ और लोथड़े।"*

—**दुरचक्र में स्रष्टा, पृ. 67**

पर्यावरण संकट के प्रति गहराई से चिंतित रहने वाले समकालीन कवियों में अरुण कमल का भी नाम लिया जा सकता है। उनकी कविता 'इक्कीसवीं शताब्दी की ओर' में अभिव्यक्त पर्यावरण चेतना का स्वरूप दृष्टव्य है—

> *"हर नदी का घाट श्मशान*
> *हर बगीचा कब्रिस्तान बन रहा है*
> *और हम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं।"* —**सबूत, पृ. 76**

समकालीन हिन्दी कविता के संदर्भ में पर्यावरण चेतना पर चर्चा की जाएगी। हिन्दी के कवि बद्रीनारायण की कविता की चंद पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

> *"वे स्वप्न देखते हैं कि*
> *कैसे जंगल के शिकारियों का*
> *आतंक कम होगा*
> *कि कैसे यह जंगल जनतंत्र में तब्दील होगा*
> *कि कैसे चिड़ियों पर*
> *किया जाने वाला अत्याचार रुकेगा*
> *जब एक रात शेर बगल के गाँव से बच्चे को उठाकर लाएगा*
> *तो अन्य सभी शेर उसके खिलाफ एकजुट हो जायेंगे।"*

—**खुदाई में हिंसा**

बद्री को पर्यावरण विरोधी कहने वाले लोग ये पंक्तियाँ पढ़ने के बाद अपने भ्रम का निराकरण कर सकते हैं। माना कि उपर्युक्त पंक्तियों में 'जंगल' प्रतीक बनकर आया है अराजक तत्वों का, फिर भी पर्यावरण की चिंता से कवि नितांत मुक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

साहित्य और संस्कृति को प्रकृति से भिन्न नहीं किया जा सकता। प्रकृति के बिना तो इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती है। इतना ही नहीं, प्रकृति के बिना जीवन भी निराधार है। पिछले कई दशकों से पर्यावरण संकट गहरा रहा है। इससे हिन्दी के रचनाकार रू-ब-रू हैं। इसलिए नदी, वृक्ष, आकाश, समुद्र, धरती आदि पर हिन्दी में तमाम कविताएँ लिखी जा रही हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि स्वस्थ एवं संतुलित पर्यावरण के बिना अपनी अपूर्णता को महसूस किया जा रहा है। प्रकृति और मानवीय संबंधों से हमें नई ऊर्जा मिलती है। यह नई ऊर्जा हमें निडर बनाती है। यह बात अलग है कि यांत्रिक सभ्यता ने मनुष्य को प्रकृति तथा स्वस्थ पर्यावरण से दूर धकेलने का निरंतर प्रयास किया है। मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया है। फलस्वरूप, पर्यावरण एवं मानव के सहज संबंध बाधा प्राप्त हुए हैं। मनुष्य की संवेदना छीज गई। प्रकृति के विनाश से नगर सभ्यता की विभीषिकाएँ सामने आईं। प्रकृति पर मनुष्य के एकाधिकार भाव ने, उसकी वर्चस्व लालसा ने वीभत्सता

खड़ी कर दी है। ऐसे ही भावों से पुष्ट मुनि क्षमासागर की काव्य-पंक्तियाँ सामने आ
है—

"आकाश सब का। दीवारें हमारी अपनी
नदी सबकी। गागर हमारी अपनी
धरती सबकी। आँगन हमारा अपना
विराट सबका। सीमाएँ हमारी अपनी।"

—अन्तो

विज्ञान एवं तकनीक के निरंतर विकास से प्रकृति सर्वाधिक क्षतिग्रस्त हो रही है। पर्यावरण प्रदूषण के खतरे मँडराते हैं। पर्यावरण-विनाश में विकसित देशों की संहार-लीला जारी है। अर्थात् इन देशों की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण रही है। इनमें से अमेरिका का क्या कहना? 'ग्लोबल वार्मिंग' का सर्वाधिक कसूरवार देश तीसरी दुनिया के देशों के मत्थे पर सारा दोष मढ़ना चाहता है। इतना ही नहीं उसका वर्चस्ववाद भी जारी है। लेकिन 'समरथ को नहिं दोस गोसाईं।' कवि ज्ञानेंद्रपति ने उसके वर्चस्ववाद पर व्यंग्य किया है तथा संकेत किया है कि अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि पर उसकी तूती बोलती है। विश्व बाजार में उसका दबदबापन आज भी जारी है—

"बारूदी धुएँ से उठते वायुमंडल
खांसती-हाँफती-काँपती मानवता किस ओर ताके
सड़क किनारे मंदिर में मर चुके अर्ध सभ्य ईश्वर की जगह
चमचमाता अचूक कंप्यूटर खड़ा है
स्कड्स पैट्रियाट, टॉमहॉक, हेलफायर, मिसाइलें, न्यूट्रान बम,
न्यूक्लियर बम, हाइड्रोजन बम
इक्कीसवीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर लटक रहे हैं बंदनवारों की तरह
कि एक उन्मत्त सांड है संयुक्त राज्य अमेरिका
और उसका उफनता अंडकोष भर है संयुक्त राष्ट्र संघ।"

—संशयात्मा

कवि ज्ञानेंद्रपति भारत के संदर्भ में बात करते हुए ग्रामीण जीवन के बिंब खींचते हैं। सूअर के बच्चों के साथ खेलते आदिवासी बच्चों के पिता मजूरी की खोज में जा रहे हैं—

"बहंगिया उठाए। पंजाब का देखने सूर्योदय
जहाँ सूर्य पूरी रोटी की तरह गोल
गेहूँ के खेतों के ऊपर"

रासायनिक हमलों से आम जनता ही नहीं पूरी मानव जाति को खतरा है। अज्ञेय ने कभी कहा था "मुझे चाहिए हरी भरी दुनिया।" उदय प्रकाश ने भोपाल गैस त्रासदी पर भी कविताएँ लिखी हैं। "पंजाब : कुछ कविताएँ" में उनकी चिंता है—

"कुल मिलाकर कितने यूनियन कार्बाइड हैं पंजाब में?
बताओ प्रार्थना करते लोगों के फेफड़ों में
कितना मिथाइल आइसो साइनेट है?
बताओ
पंजाब में कितने भोपाल हैं?"

उदय प्रकाश बड़ी शिद्दत के साथ धरती को बचाने का आग्रह करते हैं। 'बचाओ' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

"बचाना हो तो बचाए जाना चाहिए
गाँव में खेत, जंगल में पेड़, शहर में हवा
पेड़ों में घोंसले, अखबारों में सच्चाई
राजनीति में नैतिकता, प्रशासन में मनुष्यता, दाल में हल्दी।"

—रात में हारमोनियम, पृ. 22

आज पृथ्वी का अस्तित्व खतरे में है। चारों ओर प्लास्टिक का पहाड़ खड़ा दिखाई पड़ता है। तभी उदय प्रकाश की चिंता है—

"देखो हिलता है पृथ्वी पर
अमरूद का अंतिम पेड़
उड़ते हैं आकाश में पृथ्वी में अंतिम तोते
बताएँ सारे विद्वान...
किस संग्रहालय में भेजूँ पिता का बसूला
माँ का करधन और बहन के बिछुए।"

भारत की जनजातियों की आदिम सभ्यता, उनकी रीति-नीति, उनकी जीवन शैली के साथ आज का सभ्य मानव अत्यधिक मात्रा में छेड़-छाड़ कर रहा है। उनकी चिंताओं और सपनों से परिचित होना पर्यावरण से संबंधित चिंताओं एवं सपनों से गुजरना है। कवि मंडलोई आदिवासी जनजातियों के अँधेरे इलाके में हमें पहुँचाते जरूर हैं लेकिन निराश नहीं करते, आस्था एवं विश्वास भरे स्वर में सुनाते हैं—

"दुनिया में उनकी/न पहुँचा घी-दूध/न गेहूँ-चावल/
और न उन्हा लता/दुनिया में उनकी/
न पहुँची सड़कें/न रेलगाड़ी/और न बिजली/
किंतु घबराए नहीं वे/कि पेड़ों में जिंदा है हरापन/
और लकड़ियों में बची हुई है/उनके हिस्से की आग/
...कि वे भून सकते हैं/मछलियाँ, केकड़े, सूअर।
और जला सकते हैं कभी भी मशाल।"

—उसके हिस्से की आग

आज पूँजी सर्वशक्तिमान हो गई है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने मनुष्य को मनुष्य बने रहने न दिया, व्यक्ति में तब्दील कर दिया है। स्वार्थ ही परमार्थ बन रहा है। पर्यावरण को मॉलों ने, कंक्रीट के जंगल ने स्वाहा करने की ठान ली है। गगनचुंबी अट्टालिकाएँ मानो पर्यावरण का मजाक उड़ा रही हैं। पर्यावरणविदों, रचनाकारों तथा प्रकृति-प्रेमियों के शब्द भोथरे साबित हो रहे हैं। ऐसे में पर्यावरण की चेतना का प्रसरित होना जरूरी है। सुषुप्त जनता को जाग्रतावस्था में लाना आवश्यक है। कवि श्रीकांत वर्मा के शब्दों में—

''कुहरे में डूब गये हैं कुछ नारे
धूल में पड़े हैं
कुछ शब्द
उठाओ, इन शब्दों को उठाओ
क्रांति की प्रतीक्षा करती हुई
जनता सो गई है।''

—श्रीकांत वर्मा, संचयिता, पृ. 97

समकालीन कवि प्रकृति पर सभ्यता के दबाव से गहराते संकट को प्रस्तुत करता है। पर्यावरण के प्रति सचेतनशीलता समकालीन कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आज के औद्योगिक समय में विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी का दबदबा बढ़ा है। वैज्ञानिक प्रयोगों ने पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव विस्तार किया है। प्रदूषण की मात्रा तेजी से बढ़ती जा रही है। विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी के उत्तरोत्तर विकास से मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक संबंध में दूरी उत्पन्न कर दी है। कुमार अंबुज लिखते हैं—

''पक्षियों की बोली से मोहित
देह के वसंत से मूर्च्छित हुआ
झरी हुई पत्तियों पर किसी के
चलने की ध्वनि से भरा हुआ
मैं एक प्राकृतिक मनुष्य हूँ।''

—वर्तमान साहित्य, कविता विशेषांक, 1992

प्रकृति, पर्यावरण एवं मानव-जीवन के बीच सभ्यता का हस्तक्षेप होता है। समकालीन कवि ने इस तथ्य को अनदेखा नहीं छोड़ा है। प्रकृति पर कृत्रिमता का दबाव हो तो कवि अपने को पर्यावरण के पक्ष में खड़ा कर लेता है। कवि को मालूम है कि बिना लहलहाती प्रकृति के जीवन समृद्ध नहीं हो सकता। पर्यावरण की शक्ति अद्भुत है, बहुआयामी है। प्रकृति द्वारा सभ्यता की विडंबना को चित्रित करते हुए कवि कुँवर नारायण कहते हैं—

''एक पेड़ जब सूखता
सबसे पहले सूखते
उसके सबसे कोमल हिस्से

उसके फूल
उसकी पत्तियाँ।''

—कोई दूसरा नहीं, पृ. 67

दरअसल पेड़ का सूखना जीवन की शुष्कता का प्रतीक है। संवेदनहीनता, क्रूरता एवं कृत्रिमता को सूचित करता है। मानव-जीवन पर्यावरण से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यहाँ कृत्रिमता को बढ़ावा देने वाली सभ्यता का विरोध दर्ज है।

उपभोक्तावादी समाज में प्रकृति भी वस्तु मात्र है। उस पर बाजार अपना शासन करता है। तकनीकी विकास के चलते मनुष्य प्रकृति से नाता तोड़ने लगता है। इससे संवेदना बाधित होती है। समकालीन कवि ने उपभोक्तावादी संस्कृति के दबाव को रेखांकित किया है। उसने बताया है कि मानवीय संबंध और संवेदना को मृतप्राय कर देने वाली ताकतों से निजात पाना जरूरी है। स्वस्थ पर्यावरण का सान्निध्य आवश्यक है। वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह का आग्रह है—

''क्यों न ऐसा हो कि आज शाम
हम अपने थैले और डोलचियाँ
रख दें एक तरफ
और सीधे धान की मंजरियों तक चलें।''

—अकाल में सारस, पृ. 13

कवि का आग्रह है कि बाजारोन्मुखी लोग खेतों की ओर चलें। खेत अर्थात् प्रकृति पर्यावरण है—

''जहाँ चावल/दाना बनने से पहले/
सुगंध की पीड़ा से छटपटा रहा हो।''

पीड़ा की छटपटाहट संवेदनशीलता के बिना महसूस नहीं की जा सकती। इस बिंदु से कविता फूटती है। लेकिन उससे उपभोक्तावाद का क्या नाता? फसल पहुँचे खलिहान में और दाना बनकर बाजार में। बाजार पहुँचते ही दाना बन जाता है एक वस्तु, महज वस्तु। किसान का फसल के साथ आत्मीय संबंध, फसल के रंग-गंध सब उपभोक्तावाद के हिस्से बन जाते हैं। खलिहान से बाजार के लिए उठाए गए दानों का प्रतिरोध मुखर होता है—

''नहीं/हम मंडी नहीं जायेंगे/
खलिहान से उठते हुए/
कहते हैं दाने।''

—वही, पृ. 79

समकालीन कविता में प्रकृति को देखने का नजरिया बदला है। नदी, पहाड़, वृक्ष, फूल, चाँद, सूर्य तब भी थे और आज भी। आज प्रकृति महज प्रकृति नहीं है, एक समस्या भी है। सभ्यता के विकास से इस समय मानव के लिए एक बड़ी चिंता है पर्यावरण की समस्या। दिनोंदिन पर्यावरण प्रदूषण की मात्रा बढ़ती जा रही है। यह अत्यंत चिंतनीय है कवि एकांत श्रीवास्तव के लिए और मानव-जाति के लिए भी—

"किस ऋतु का फूल सूँघूँ
किस हवा में साँस लूँ
किस डाली का सेब खाऊँ
किस सोते का जल पीऊँ
पर्यावरण वैज्ञानिकों
कि बच जाऊँ।"

—अन्न हैं मेरे शब्द, पृ. 104

युवा कवयित्री निर्मला पुतुल जल, जंगल और जमीन से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' की एक बेहतरीन कविता है 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा'। इसमें कवयित्री की पर्यावरण चेतना स्पष्ट होती है—

"और उनके हाथ में मत देना मेरा हाथ
जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाए
फसलें नहीं उगाई जिन हाथों ने।"

बरगद काटे जा चुके हैं। जंगल का सफाया जारी है। नदियाँ सुखाई जा रही हैं। पक्षियों की प्रजातियाँ नष्ट हो रही हैं, जहरीली गैस सूँघने के लिए मनुष्य विवश हो रहा है। पर्यावरण संकट उत्पन्न करने वालों के वश के बाहर है सप्तर्षि की छाँह को उड़ा ले जाना। इसलिए वह बची हुई है। कुछ सही, बचाती है। यही भाव ज्ञानेंद्रपति व्यक्त करते हैं—

"बहुमंजिली बिल्डिंगों के लिए काट डाले जिन्होंने
पृथ्वी पर के बरगद
हमारे शीश के ऊपर
छोड़ दी है सप्तर्षि की छाँह।"

जल, जंगल और जमीन की चिंता ने कवि को बार-बार व्यथित किया है। खुशी की बात है कि इस चिंता से बुजुर्ग कवियों के साथ-साथ युवा कवि भी जूझते हुए दिखाई पड़ते हैं। कवि जितेंद्र श्रीवास्तव की 'पहाड़ : सात कविताएँ' में जल, पहाड़ व पर्यावरण की चिंता प्रकट हुई है। कविता में आस्था-भाव प्रकट हुआ है—

"यह समय तुम्हारा है/सिर्फ तुम्हारा
उठो लपककर छू लो आकाश
यह धरती भी तुम्हारी है
आकाश भी तुम्हारा।"

—अनभै कथा, पृ. 54

प्राकृतिक दुनिया ध्वस्त-विध्वस्त हो रही है। उसे बचाने की आवश्यकता है। समकालीन कवि इस ओर पूर्णतः जागरूक दिखाई पड़ता है। आज न केवल कविता की दुनिया में बल्कि संपूर्ण मानव-जाति के सामने पर्यावरणीय संकट गहराता जा रहा है। कवि बचाना चाहता है इसे अपने लिए नहीं, पूरी मानव जाति के लिए। देवी प्रसाद मिश्र ने कहा है—

"जाओ/सरस्वती के जल से आँखों में/छींटे मार लो/
जाओ/जब तक हो सके सरस्वती के किनारे बैठे रहो/
जाओ/सरस्वती में नहाओ/जितनी गहराई तक हो सके/
पैठ लो/कछुए की तरह डूबे रहो/सरस्वती में।"

—अक्षर पर्व, पृ. 8

नदी पर्यावरण का अभिन्न अंग है, सभ्यता का और जीवन का भी। अपनी लंबी कविता 'नदी घाटी सभ्यता' में कृष्णमोहन झा ने स्वस्थ पर्यावरण पर हो रहे 'आत्मघाती हमलों' को नहीं भुलाया है। 'मनुष्य बनाम प्रकृति' को सामने लाकर नदी के बहाने पर्यावरणीय चिंता व चेतना को उज्जीवित किया है। नदी में जंगल, पहाड़ व आकाश सभी समाहित हैं—

"यहीं आकर एक सभ्यता दम तोड़ देती है।
यहीं से शुरू होते हैं आत्मघाती हमले
यहीं आकर नदियाँ
अपनी धारा मोड़ लेती हैं।"

कई दुर्लभ वनस्पतियों की प्रजातियाँ समाप्त हो जाती हैं। जीव-जंतु विलुप्त हो जाते हैं। ग्लेशियरों के पिघलने की गति तेज हो रही है। 'ग्लोबल वार्मिंग' बढ़ रही है। निरंतर गर्मी हो रही है। ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि अगले 40 से 50 वर्षों में ग्लेशियर पिघल जायेंगे पूरी तरह से। जलवायु परिवर्तन के बारे में कवि कृष्णमोहन की चिंता लाजिमी है—

"अब भग्न हृदय पानी के लिए छटपटाने लगता है। पूजा घरों
में लग जाता है नारियल का ढेर मंत्र बन जाते हैं शोर।
बीमार लोगों की बाँह पर ताबीज बँध जाती है। मुक्ति के विभिन्न
मॉडलों से भर जाता है बाजार और हरेक चौराहे पर ईश्वर
बिकने लगता है।"

मनुष्य प्रकृति का उपयोग करेगा, यह ठीक है। उसका दोहन व शोषण कैसे कर सकता है? मुनीर मियाँ का पत्ते तोड़ना समझ में आता है कि वह अपनी बकरियों के लालन-पालन हेतु ऐसा कर रहा है। पर बिना मतलब के सारे पत्ते झड़ जाएँ तो बकरियाँ कैसे बचेंगी? बीमार बच्चों को दूध कहाँ से मिलेगा? राजेश जोशी की चिंता जाहिर है—

"ऐसी कितनी सारी बकरियाँ हैं इसके पास
ये तो सारा का सारा पेड़ ही नंगा किए दे रहा है।
मुनीर मियाँ तो ऐसा कभी नहीं करते
बस चारे भर को तोड़ते हैं
रोज....
आखिर तो वे अपने आदमी है।"

—एक दिन पेड़ बोलेंगे, पृ. 20

कवि की यह सोच जितना जीवन से जुड़ी है उतना ही पर्यावरण के संरक्षण की चिंता से भी संबद्ध है।

समकालीन कवि प्रकृति व पर्यावरण के संकटपूर्ण अस्तित्व को लेकर चिंतित है। वह नहीं चाहता कि औद्योगिक सभ्यता प्राकृतिक संसार को नष्ट कर दे। प्रकृति के शोषकों तथा पर्यावरण को संकटग्रस्त करने वालों को वह कभी चुनौती देता है तो कभी प्रकृति एवं मनुष्य के रागात्मक संबंध को उज्जीवित करता है और कभी सामान्य जन में प्रकृति चेतना तथा पर्यावरण चिंता प्रसारित करता है। लीलाधर जगूड़ी लिखते हैं—

"तुम्हें जानना है कि गेहूँ न गोदामों में पैदा होता है
न कारखाना में
गेहूँ
लोहा, प्लास्टिक और कागज की लुगदी से
नहीं बन सकता।"

—अनुभव के आकाश में चाँद, पृ. 47

बाबा नागार्जुन ने 'बलचनमा' लिखकर जो रास्ता दिखाया था उस पर चलते हुए वीरेंद्र जैन ने 'डूब' (1991) लिखा। मध्यप्रदेश के पिछड़े अंचल की व्यथा को वर्णित किया है। अँधेरे से बचाने के लिए विद्युत परियोजनाएँ बनती हैं। इसमें विस्थापन हुआ और नेताओं का छल-कपटभरा आचरण, शोषण, अत्याचार जारी रहा। साहूकार की स्वार्थपरता भी 'डूब' में मौजूद है। नासिरा शर्मा ने 'कुइयाँ जान', राजेंद्र शर्मा ने 'हलफनामा' और विद्यासागर नौटियाल ने 'स्वर्ग दद्दा पाणि पाणि' प्रस्तुत किया। पर्यावरण की चिंता को ये कथाकार अपने-अपने ढंग से चित्रित करते हैं। अरुण कमल की 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' शीर्षक कविता उपर्युक्त भाव बोध की है। वास्तव में 'डूब' की कथा को अरुण कमल अपनी विधा में प्रस्तुत करते हैं। "मध्यप्रदेश के किसी गाँव में आदिवासियों ने बिजली लगाने का विरोध किया—एक समाचार"—कविता की पाद-टिप्पणी में है। अरुण कमल कहते हैं—

"उन्हें रोशनी नहीं चाहिए
बिजली के तार और खंभे
ट्यूब और बल्ब
नहीं चाहिए
एक अँधेरा जो सब अँधेरे से बड़ा और घना है
जहाँ रात ही रात है हजारों सालों से।"

—अपनी केवल धार, पृ. 25

पर्यावरण को बचाने के लिए तमाम अभियान चलाये जा रहे हैं। आंदोलन संगठित हो रहे हैं। परंतु दुःखद स्थिति यह है कि पर्यावरण संकट आज भी मँडरा रहा है। युवा कवि स्वप्निल श्रीवास्तव लिखते हैं—

"इस शताब्दी में तमाम चीजों के
बचाने के लिए अभियान चलाए
जा रहे हैं।
ताज्जुब यह है कि बचाव की इतनी
कोशिशों के बावजूद
न आदमी बच रहा न जंगल
परिंदों की बात तो बहुत दूर है
सबसे ज्यादा खतरे में तो आदमी के विचार हैं
यदि वे न बचें तो कुछ भी नहीं
बचाया जा सकता है।"

—मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए, पृ. 54

कवि विनोद दास किसानों के संदर्भ में विचार करते हुए उनकी इच्छा के बारे में लिखते हैं—

"सिर्फ चाहते हैं
जब कोई चिड़ियाँ
उनके आँगन से उड़े
उनकी चोंच में दबा हो
कम-से-कम एक अदद दाना।"

प्रकृति को बचाना एवं पर्यावरण का संरक्षण करना समकालीन कवि की बड़ी चिंता है। जरूरत यह है कि हम इस पर सहृदयता से सोचें। डालियाँ कट जाने का दर्द समझें। नदी के सूखने की यंत्रणा महसूस करें। चिड़ियों-वनस्पतियों की प्रजातियों की विलुप्ति का कष्ट हृदबोध करें ताकि हम बचेंगे और बची रहेगी हमारी अस्मिता। धरती संकट में है तो हम सभी भी संकट में हैं। अत: इससे मुक्त होने के उपायों पर सोचना आवश्यक है। समकालीन रचनाकारों को इस सोच ने उद्वेलित किया। इसे कविताओं ने अभिव्यक्त किया है। आवश्यकता है कि हम इस विषय से संबंधित रचनाओं का पाठ समझें एवं उसकी मूल संवेदना से परिचित होने का प्रयास करें।

□□□

समय के आर-पार के कवि

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1940) हिंदी के सुपरिचित कवि, प्रसिद्ध आलोचक, मान्य संपादक एवं गद्य की विविध विधाओं के प्रतिष्ठित लेखक हैं। चालीस से भी अधिक कविता-वर्ष व्यतीत कर चुके तिवारीजी के अब तक पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन संकलनों की कविताएँ हिंदी पाठकों के बीच तो लोकप्रिय हुईं ही, तमाम भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं के काव्य-मर्मज्ञों को भी लुभाती रही हैं। परंतु विडंबना यह है कि हिंदी आलोचना ने, तिवारीजी की कविता को जिस गंभीरता से लेना चाहिए था, नहीं लिया है। हालाँकि उनकी कविता सभी दृष्टियों से समर्थ है और गंभीर आलोचना की अपेक्षा रखती है। आपके आलोचकीय एवं संपादकीय व्यक्तित्व ने कवि-सामर्थ्य को अँधेरे में रखने का प्रयास किया है। परंतु अब समय आ गया है कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के काव्य-संसार में बिखरे मोतियों को समेटकर पाठकों के सामने, खासकर उनके काव्य-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाये।

आज साहित्य को विचारधारा या विमर्शों के नाम पर खंड-खंड में बाँटकर देखा जा रहा है। इस प्रवृत्ति ने किसे, कितना, किस रूप में लाभ पहुँचाया है, उस पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है, लेकिन यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि खंडों में साहित्य को विभाजित करने के फलस्वरूप उसे सर्वाधिक हानि पहुँच रही है। साहित्य पूर्णता का द्योतक है। तिवारीजी ने उसे टुकड़ों में नहीं देखा। न ही उन्होंने विचारधारा एवं विमर्शों की तंग गलियों में कविता को सीमित रखा। उनके काव्य-जगत् के केंद्र में मनुष्य हैं। मानवता की चिंता उनकी कविता में व्यापक परिप्रेक्ष्य में रूपायित हुई है। मानव तथा मानवीयता के बाधक तत्त्वों—संकीर्णता, रूढ़िग्रस्तता, कुसंस्कारों, जर्जर मान्यताओं का उन्होंने विरोध किया है। निराश, हताश, उदास जीवन के गीत गाना तिवारीजी के कवि-स्वभाव के विरुद्ध है। अदम्य जिजीविषा, तीव्र संघर्षशीलता, सघन आत्मीयता एवं अनंत संभावनाओं में आस्था रखने वाले कवि हैं विश्वनाथ प्रसाद तिवारी।

मनुष्य वह है जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी हिम्मत न हारे। भयानक समय में कराहते, घुटते-पिसते हुए भी जिजीविषा को अप्रतिहत रखने वाला, मनुष्य है। जो संघर्ष से

शक्ति अर्जित करता है। अँधेरे में भी विश्वास और सपनों की पतंग उड़ाता है। तिवारीजी की कविताओं में मनुष्य के इसी रूप का महत्व है जो तमाम बंधनों से मुक्त होने के लिए संवेदना विहीन व्यवस्था को चुनौती देता है।

आदमी अपनी धुरी पर दृढ़ हो गया है
और यह वक्त है
तुम वापस कर दो हमारा आकाश
हमारी मिट्टी
हमारी शिनाख्त।

—साथ चलते हुए, पृ. 11

तिवारीजी की कविता में 'अँधेरा' बार-बार आता है—विविध संदर्भों के साथ। व्यक्ति-मन का अंधकार, समय का अंधकार, युगीन अंधकार तथा और भी भिन्न-भिन्न संदर्भों में अंधकार चित्रित हुआ है। अँधेरे का रूपक निर्मित करना, उसकी पड़ताल करना और अंधकार के साम्राज्य में भी उजास की एक किरण की संभावना जाहिर करना आपकी कविता की खूबी है। 'रात' शीर्षक कविता में कवि ने लिखा है—

अपने-अपने अँधेरे बन्द कमरों में
दुबककर खामोश हो जाते हैं
और जिन्दगी-भर के आदर्शों-जिम्मेदारियों से दबे
पेट के बल खाँसने लगते हैं।

—साथ चलते हुए, पृ. 13

अँधेरा की सर्वव्यापकता को रेखांकित करते हुए कवि ने एक मार्मिक कविता लिखी है। इसका शीर्षक है 'यह सन्नाटा'। वास्तव में अंधकार ने मनुष्य को, उसकी चेतनशीलता को निर्वीर्य करने का पूरा प्रयास किया है। कवि के शब्दों में—

केवल अँधेरा है
जो आहिस्ते आहिस्ते
फैलता जा रहा है कमरे में
और बाहर रेतीले तट पर
जहाँ शिथिल हो गया है सागर
और हवाओं में चीखने की ताकत नहीं रह गयी है।

—साथ चलते हुए, पृ. 24

चीखना जरूरी है अपनी अस्मिता को बचाये रखने के लिए। अपनी अस्मिता यानी मानव का अस्तित्व। इसे जीवित रखना आवश्यक है, अति आवश्यक। अंधकार में असंख्य ध्वनियाँ विद्यमान हैं। जरूरत है उन्हें पहचानने की, समझने की और समझाने की भी। 'सही भाषा' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

तुम चाहो तो उस अंधकार की ओर लौट सकते हो
जिसमें वे अपने बाल-बच्चों सहित खो गये
उस अंधकार में असंख्य ध्वनियाँ हैं
उस मिट्टी, पानी, धूप, हवा तक पहुँचाने के लिए।

—साथ चलते हुए, पृ.

वास्तव में 'साथ चलते हुए' कविता संकलन में चित्रित अँधेरा वह अँधेरा नहीं है कि हम नंगी आँखों से निहार सकें। रोजमर्रा की जिंदगी की भागमभाग में व्यक्ति के उस अँ के सघन अर्थों से रू-ब-रू होने में थोड़ी कठिनाई होती है। कवि-हृदय उसे देख पाता है दिखाता है। वह परोक्ष रूप में उससे हमें सावधान भी करता है। उससे जूझने की शक्ति प्र करता है। उसका सामना करने के लिए हमें प्रेरित करता है।

अँधेरे इलाके का चित्रण करके तिवारीजी ने भले ही अपनी विशिष्टता न दिखायी है लेकिन उस अँधेरे के साम्राज्य में भी प्रकाश को ढूँढ़ लेने की सामर्थ्य दिखाकर उन्होंने अ विशिष्ट पहचान बनायी है। उनकी दृढ़ आस्था दृष्टव्य है—एक किरन फूटती है/अंधक के गर्भ से (पृ. 61)। और भी, कवि ने कहा है—'हम एक दूसरे के लिए/भोर तक प्रतीक्ष करते हैं' (पृ. 22)। भोर की प्रतीक्षा माने मंगलमय भविष्य की कामना! कवि का अगा विश्वास झलकता है उज्ज्वल संभावना को लेकर।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने माँ, लड़की, बच्चा, स्त्री, प्रियतमा आदि से संबंधित अनेक कविताएँ लिखी हैं। 'आखर अनंत' में संकलित उनकी 'माँ' सीरीज की कविताएँ काफी लोकप्रिय हुईं। पाठकों ने 'माँ' केंद्रित कविताओं का मुक्त हृदय से स्वागत किया। इसमें अभिव्यक्त भाव केवल कवि के बनकर नहीं रह जाते, पाठकों के भावों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। पाठकों में आत्मीयता के भाव झंकृत होते हैं। उनकी संवेदनाएँ जाग्रत हो उठती हैं। कवि के भाव-जगत् के साथ-साथ पाठक भी विचरण करने लगते हैं। कभी रोते हैं तो कभी असह्य पीड़ा का भार ढोते हैं। माँ की मृत्यु पर तिवारीजी की एक कविता है 'उड़ गयी माँ'। इसमें 'अरथ अमित आखर अति थोरे' कहावत चरितार्थ होती है। इसमें बहुत कुछ अनकही रह गयी है। इस 'अनकही' को पाठक अपनी संवेदना के बल पर उद्घाटित करता है। यहीं कविता की सृजनशीलता सफल ही नहीं, सार्थक भी होती है—

माँ का आँचल जल रहा था
जिसमें छिपाया करती थी वह हमें
सबसे पहले पैर जले माँ के
फिर सिर जला
जल नहीं रहे थे
माँ के अमृत पयोधर

हमने लपटें तेज कीं
और तेज कीं लपटें
माँ अकेली लड़ रही थी
लपटों से, हवा से, आकाश से
सत्तर वर्षों का अनुभव था, उसके साथ।

—आखर अनंत, पृ. 24-25

भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' में शामनाथ अपनी माँ को, उसकी इच्छाओं को, अस्मिता को, बाजारू बना देता है। उपभोक्तावादी समाज में माँ को भी प्रॉडक्ट बना दिया गया है। ऐसे में तिवारीजी की माँ केंद्रित कविताओं की अर्थवत्ता स्वयंसिद्ध है, जहाँ संवेदना की कई परतें खुलती हैं।

यदि कोई कहे कि कवि की माँ केंद्रित कविताओं में स्मृतिभर है तो न्यायसंगत न होगा। इन कविताओं की प्रत्येक पंक्ति में पाठक कवि की धड़कन महसूस करता है। माँ के शब्द-चित्र अंकित होते चलते हैं। उसका चेहरा दिखायी पड़ता है। उसकी ममतामयी गोद एवं प्यारभरे आँचल के चित्र उभरते हैं—

रात काटने के लिए
परियों के किस्से सुनाती
अँधेरे से लड़ने के लिए
संझा-पराती के गीत गाती
पृथ्वी और आकाश के पिंजरे में फड़फड़ाती
बीमार घड़ी सी टिक् टिक् चलती
अचानक नहीं गयी माँ
थोड़ा-थोड़ा रोज गयी
जैसे जाती है आँख की रोशनी
या अतीत की स्मृति।

—आखर अनंत, पृ. 26

माँ वसुधा है। वह संपूर्ण धरती है, जिस प्रकार नदी कछारों को उर्वर बनाती है, ठीक उसी प्रकार जीवन के कछारों को उर्वर बनाने वाली माँ सृजनशीलता का अनन्य पर्याय है। माँ केवल एक शब्द ही नहीं, न केवल वह माँ है—

माँ नहीं थी वह
आँगन थी
द्वार थी
किंवाड़ थी

चूल्हा थी
आग थी
दुख की धार थी।

—आखर अनंत, पृ. 31

स्नेह एवं प्रेम की ऊष्णता माँ प्रदान करती है तो प्रेम की धारा भी वह प्रवाहित करती है। उपर्युक्त छोटी कविता में माँ के बहाने कवि ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं परंपरा के अक्षय स्रोत को प्रवहमान बनाया है। यहाँ संवेदना का प्राचुर्य तो है ही, कवि की काव्य-प्रतिभा का निदर्शन भी है। सबसे बड़ी बात है कि ये पंक्तियाँ कभी सुख की सिहरन भर देती हैं, कभी चुपके से बहा देती हैं गंगा-यमुना की सी पतली धाराएँ। कवि की एक मार्मिक कविता है 'माँ और आग'। माँ और आग में क्या संबंध हो सकता है? इस सवाल से पाठक मुठभेड़ करने के बाद कविता के देश में प्रवेश करता है। वह यह भी सोचता है कि जिस आग का जिक्र है, वह कहीं विद्रोह का प्रतीक तो नहीं, जिसमें सारी अव्यवस्थाओं को जलाकर राख कर दिया जायेगा? कौनसी आग है? कहीं यह आग तो नहीं, जिसे माता धरती ने सूर्य से रसोई हेतु माँग ली थी, संसार-निर्माण के वास्ते? तिवारीजी की उक्त कविता में आग विध्वंस का प्रतीक नहीं, निर्माण की प्रतीक है। संबंधों की गर्माहट, प्रेम की ऊष्णता को बनाये रखने वाली आग है। भाईचारा बना रहे, मैत्री भाव पनपे, सौहार्द विकसित हो। इसके लिए थोड़ी-सी आग की जरूरत है। अजनबीपन मिटे, प्रेम का वातावरण निर्मित हो—

अँधेरे में वह धीरे से उठती
आग को और सावधानी से
छिपा देती राख में
जैसे अपने आँचल से ढककर हमें दूध पिला रही हो।

—आखर अनंत, पृ. 31

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता के कई छोर हैं। इसलिए कवि कोल्हू के बैल की तरह मेहनत करने वाली लड़की की व्यथा-कथा का साक्षात्कार करता है तो अन्तर्व्यथा से परिपूर्ण अपने समय एवं समाज का भी। मनुष्य की जटिल संवेदनाओं की परतों को उद्घाटित करता है, सहज-सरल प्रेम-संबंध की गूढ़ व्यंजना को विविधता के साथ प्रस्तुत करता है। कवि ने लोक एवं शास्त्र दोनों को अपनी कविताओं में अंकित किया है। इसमें गहन अनुभव से भरपूर संसार का चित्रण है तो अन्य पीड़ा के प्रति गहरी संवेदना भी। आशय यह कि कवि के काव्य-संसार में विविधताएँ हैं, बहुरंगी छटाएँ भी। जीवन और जगत से जुड़ी संतुलित कवि की कविताओं का मूल वैशिष्ट्य है। प्रेम, स्त्री, प्रकृति, सौंदर्य आदि से संबंधित उत्कृष्ट कविताएँ मिलती हैं। इस दृष्टि से 'बेहतर दुनिया के लिए' कविता संकलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1979 से 1984 के बीच लिखी गयी 75 कविताओं के इस संकलन में वैविध्य है। बहुवर्णी भाव-जगत है। अपने स्वभाव के अनुकूल कवि ने कविता में अपनी

अपार आस्था दिखाती है। कविता के प्रति कवि का अटूट विश्वास एवं अगाध भरोसा है। कवि ने कविता एवं मनुष्य को अन्योन्याश्रित माना है। कविता से दुनिया उन्नत होती है। कविता से मनुष्य के हृदय की आनन्द खिड़कियाँ खुलती हैं। कविता शाश्वत होती है और कालजयी भी। कवि ने लिखा है—

जो लिखते हैं कविताएँ
और करते हैं प्यार
वो धरती को जोड़कर और जोड़कर रखते हैं
जोड़कर और अंबर
जोड़कर और घर।

—बेहतर दुनिया के लिए, पृ. 113

आचार्य शुक्ल के निबंध की भाँति तिवारीजी की भी एक कविता है 'कविता क्या है?' कवि तिवारी जी ने इसी काव्य रूप में उतारते हुए यह बताया है कि शब्द जोड़ लेने, तुक मिला देने अथवा अनुप्रास खेल दिखा देने से कविता नहीं बन जाती है। कविता किसी खूबसूरत सपने की भाँति है। उन्होंने लिखा है—

शब्द और अर्थ नहीं है कविता
सबसे सुन्दर सपना है
सबसे अच्छे आदमी का।

—बेहतर दुनिया के लिए, पृ. 113

जिक्र किया जा चुका है कि कवि की प्रबल आस्था कविता में है। यहाँ उल्लेख आवश्यक है कि कवि की सर्वाधिक आस्था मनुष्य में है। आज के संदर्भ में जिस वातावरण में तिवारीजी की कविता का खास महत्त्व है। निराश, हताश, पराजित, भ्रांत मनुष्य के लिए संभावनाओं के अनंत द्वार उद्घाटित करने के उद्देश्य से तिवारीजी की कविता पाठकों के सामने उपस्थित होती है। जैसे—

(क) *उठो, उठो*
भारत और माँ के सपूतो
अब भी खेतों में थोड़ी नमी बची है।

—बेहतर दुनिया के लिए, पृ. 111

(ख) *एक अँधेरे कुएँ में*
अधूरी इच्छा-सी सुबकती हुई
सोचती हुई
अचानक आ धमकने वाली मृत्यु के बारे में
वह बची होगी
स्वप्न की तरह।

—आखर अनंत, पृ. 43

(ग) *अपने अंधकार के मलबे में ही*
चमकदार कणों को टटोलता हूँ
जो भी टूटे शस्त्र हैं मेरे पास
उन्हीं से लड़ता हूँ।

—साथ चलते हुए, पृ.

(घ) *"दहक रही है चिता*
और जल रहा है श्मशान
लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ
फिर भी कुछ रह जायेगा।"

—फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ.

इस प्रकार के भाव तिवारीजी के सभी कविता संकलनों में मिलते हैं। यहाँ प्रबल भाव नहीं हैं और न ही कल्पना का निष्प्रयोजन विस्तार। कवि का आधार है—जीव-जगत व्यापार। उनकी कविता से गुजरकर यह अहसास होता है कवि संवाद का क्रम निरंतर रखता है। यह संवाद स्वयं से, अपने परिवेश से सतत चलता रहता है। खीझ, असंतोष, निराशा के स्वर कम है, बहुत कम। कवि ने 'संतोष परम सुखम्' को मूलमंत्र बनाया है। वैशिष्ट्य है तिवारी जी का, जो उन्हें समकालीन रचनाकारों से अलग स्थान प्रदान करता है। धारा में बहकर सृजन करना कवि का लक्ष्य नहीं रहा। उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया और उस पर चले। बहरहाल, कवि कितने कम में संतुष्ट हो जाता है, उसका अवलोकन किया जाये—

बची है लकड़ी में आग
बचा है नींद में स्वप्न
मुझे संतोष है
बच गयी हो
ओस की बूँद की तरह
बच्चे की जिद की तरह
मुझसे थोड़ा-सा तुम
मुझे संतोष है।

—आखर अनंत, पृ.

तिवारीजी का काव्य-संसार राजनीति को नहीं, मनुष्य को केंद्र में रखता है। हालांकि 'बेहतर दुनिया के लिए' संकलन में 'तथाकथित जनता का आदमी' शीर्षक कविता में राजनेताओं का छल-छद्मभरा चरित्र अंकित जरूर हुआ है (पृ. 84)। पुनः भारत के आपातकाल में प्रकाशित कविता संकलन 'साथ चलते हुए' में यदा-कदा राजनीतिक संदर्भ मिल जाते हैं। परंतु ऐसा लगता है कि राजनीतिक कविता सृजन में कवि का मन अधिक रमा

नहीं। ऐसा करना उनकी अभीप्सा भी नहीं होगी। जिस मनुष्य की चिंता से कवि सर्वाधिक उद्विग्न है, उसके बाधक तत्त्व के रूप में भले ही राजनीतिक संदर्भ की क्षीण धारा प्रवाहित हुई हो तो हो। कवि को आशंका रही होगी कि नारेबाजी न बन जाये उनकी कविता। नागार्जुन, रघुवीर सहाय सरीखे कवियों की राजनीतिक चेतना तिवारीजी की कविता में न होने का मूल कारण है कि मानव, मानवीयता, उसकी संघर्षशीलता एवं जिजीविषा का चित्रण राजनीति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आदमी बचा रहेगा तो बाधक तत्त्व दूर होंगे ही। कवि का स्वर है—

करोड़ों हिमपातों
अरबों भूकम्पों
उल्कापातों आघातों के बाद भी
बच गया है यह आदमी
अपनी इंद्रियों के साथ ही सलामत।

—आखर अनंत, पृ. 59

अपने सभी कविता संकलनों में कवि ने ढेरों छोटी कविताएँ लिखी हैं। कहीं ऐसी कविताओं का कलेवर तीन पंक्तियों का है तो कहीं चार अथवा पाँच पंक्तियों का। परंतु इन कविताओं के कई अर्थ हैं, कई संदर्भ हैं। बिना कुछ कहे सबकुछ कह देने की कला विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को भलीभाँति मालूम है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी ही सर्वोपरि है। उसके सामने तमाम मानवीय नाते-रिश्ते बौने एवं ठिगने प्रतीत होते हैं। पूँजी ने मनुष्य को गुलाम बना रखा है। यह उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है। अपसंस्कृति फैला रही है। भोगवाद एवं विलास में डुबा रही है। इसके चलते मूल्यों का विघटन बड़ी तेजी से हो रहा है। मार्के की बात यह है कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'पूँजी' शीर्षक से जो कविता लिखी है, वह औरों से भिन्न है। उसमें अपने मूल्यों को जीवित रखने का तीव्र आग्रह है। राष्ट्रीय मूल्य के भाव से परिपूर्ण तथा अपनी माटी के प्रति अपार आकर्षण से युक्त—

चुटकी भर मिट्टी
चोंच भर पानी
चिलम भर आग
दम भर हवा
पूँजी है यह
खाने
और लेकर परदेश जाने के लिए।

—फिर भी कुछ रह जायेगा, पृ. 68

□□□

शहर के सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूँ

दिविक रमेश हिंदी के वरिष्ठ कवि हैं। अब तक आठ कविता-संग्रह प्रकाशित होने के बावजूद दिविक रमेश को हिंदी कविता ने वह स्थान नहीं दिया है, जिसका वे अधिकारी हैं। 'बाँचो लिखी इबारत' दिविक का आठवाँ कविता-संग्रह है। इसकी कविताएँ तमाम पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं परंतु कवि के अन्य काव्य-संग्रहों में नहीं। इस संग्रह की कविताओं पर विचार करने के पहले यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन से कविता सृजन करने वाले रमेश शर्मा ने अपनी पहचान दिविक रमेश के नाम से बनाई। दिविक अर्थात् दिल्ली विश्वविद्यालय के कवि। पिछले तीन दशकों से भी अधिक अवधि से कवि-कर्म में रत दिविक की कविताओं ने हिंदी के तमाम मूर्धन्य कवियों का ध्यान आकर्षित किया है। दिविक के प्रथम कविता-संग्रह 'रास्ते के बीच' (1977) का चयन शमशेर बहादुर सिंह ने किया था। बाद के संग्रहों का चयन त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे और अशोक वाजपेयी ने किया। अशोक वाजपेयी द्वारा चयनित कविता-संग्रह 'गेहूँ घर आया' को पाठकों ने खूब सराहा। आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह के अलावा निर्मला जैन, अरविंदाक्षन, गोपेश्वर सिंह, विनय विश्वास, हेमंत कुकरेती आदि ने भी दिविक की कविताओं की प्रशंसा की है, लेख लिखे हैं।

बहरहाल, चर्चा 'बाँचो लिखी इबारत' की जाए। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें वैविध्य भरपूर है। यह वैविध्य विषय से संबंधित है तो रूप, आकार-प्रकार से भी। मात्र नौ शब्दों की कविता 'चुंबन' है तो 'वह खींचता रिक्शा कलकत्ते में', 'जानवरों के खिलाफ' जैसी लंबी कविताएँ भी संकलित हुई हैं। गाँव, कस्बा, महानगर के चित्र उनकी कविताओं में अंकित हुए हैं तो बाजार, समय और सांप्रदायिकता की विभीषिकाओं का भी चित्रण हुआ है। कहना न होगा कि राजनीति की चालाकियाँ और जनतंत्र का मखौल उड़ाने वाली कविता मिलती है। हृदय के कोमलतम भाव को संजोने का आग्रह करने वाली कविता भी उपलब्ध है। दिविक रमेश की कविताओं में भूमंडलीकरण के परिदृश्य का चित्रांकन मौजूद है। उनकी कविताओं की दूसरी बड़ी खूबी है पठनीयता और संवादधर्मिता। पाठक दिविक की कविता

पढ़ता ही नहीं उससे जुड़ता चला जाता है। तीसरा वैशिष्ट्य है गाहे-ब-गाहे लोक-जीवन की झाँकी दिखाई पड़ती है। इस कवि को न तो जनवादी नारेबाजी से लगाव है और न ही रूपवाद से प्रेम। हताश, उदास, निराश माहौल में भी जिजीविषा को स्थापित करना चाहती हैं दिविक रमेश की कविताएँ। इनके कवि-कर्म की एक और भी खूबी पाठकों को प्रभावित करती है। यह है शब्दों की मितव्ययिता। कम-से-कम शब्दों में कवि अपने समय और समाज की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करता है। फलस्वरूप, उसकी कविताओं में संकेंद्रित संवेदना बनी रहती है।

कविता 'सहधर्मी से संवाद' में मानव प्रवृत्ति के जिक्र के बहाने समय की विडंबना को अंकित किया गया है। छल, कपट, परनिंदा आदि दुष्प्रवृत्तियाँ जमाने में तेजी के साथ बढ़ रही हैं। इसलिए कवि दुःखी है। उसका संवाद है—"मेरे मित्र काश! तुमने देखा होता/एक साथ फूटते, फिर लहलहाते/अनेक-अनेक बीजों को/एक-दूसरे को चूमते/स्वीकारते, एक-दूसरे का अस्तित्व।" (पृ. 12)

यहाँ एक-दूसरे को 'स्पेस' ही नहीं, सह-अस्तित्व तथा प्रेममय वातावरण की ओर भी कवि का संकेत है।

शहरी जीवन से मानवीय गुण लुप्तप्राय हो रहे हैं। जीवन यंत्रवत् हो रहा है। कवि की बड़ी चिंता है कि मासूमियत कहीं शब्दकोश में ही न बंध जाए। इसके बिना सृजन कैसे संभव होगा? कवि इसे भलीभाँति महसूस करता है। इसलिए कवि की अभीप्सा है—"मैं अपने इस शहर के/सबसे मासूम हिस्से को छूना चाहता हूँ/उसी हिस्से से/खोदकर माटी/मैं कविता के चाक पर रखूँगा।" (पृ. 14)

एक बेहतरीन कविता है 'मेरा हथियार'। इस कविता में कवि ने फटेहाल बच्चों, बेकार नौजवानों, उदास चेहरों, लुप्त होने की कगार पर खड़ी बोलियों, रुके पड़े रास्तों, निर्वाक् लोगों को अपनाकर, हथियार मानकर चलना चाहा है। इन्हीं से कवि अपने रचना-संसार का खाद-पानी पाना चाहता है। संघर्षशील होना चाहता है।

दिविक रमेश ने अपने समय को अनदेखा नहीं किया है। फैलती जा रही अपसंस्कृति पर उँगली रखकर कवि चुप्पी नहीं साध लेता। वह इस स्थिति के जिम्मेदार पहलुओं को भी ढूँढ़ निकालता है—"लड़की नंगी हो रही थी/लड़की नाच रही थी/एक अदृश्य डोरी/शायद मेरी उँगली से भी आ उलझी थी।" (पृ. 20)

विभाजन की कीमत पर देश आजाद हुआ। आजादी के पहले, आजादी के बाद और समकाल की बड़ी त्रासदी है सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता को उभारने वाली रचना को चाहे जो भी नाम दें, लेकिन उसे कतई कविता नहीं कह सकते। कवि सांप्रदायिकता को भड़काने वाला काम नहीं करता। वह भाईचारे की बात करता है। सौमनस्य, धार्मिक सद्भाव और सौहार्द को बढ़ावा देता है। सांप्रदायिकता से उबारने की औषधि को ढूँढ़ने का प्रयास करता

है। 'एक थे हनीफ दादा भी मेरे' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं— "दादा ने बताया था/जब मैं हुआ/तो लड्डू उन्होंने नहीं, हनीफ दादा ने बांटे थे।" (पृ. 22)

ऐसे हनीफ दादा को अपने दादा नहीं बचा सके थे—"छत्तीस गामों के पुरोहित होकर भी/ नहीं बचा सके थे, ढहते चले गए थे ढूंह-से।" (पृ. 23)

कवि के लिए प्रजातंत्र एक ऐसे पत्थर के समान है जिस पर सैकड़ों फनकार छेनियाँ चलाते जा रहे हैं और उसे चकनाचूर किए जा रहे हैं। वे अपने को सुहाने वाले रूप की खुदाई कर रहे हैं। अपने-अपने स्वार्थ को रूपायित करने के लिए प्रजातंत्र का मनचाहा अर्थ लगाते रहते हैं। मंत्री, नेता, कर्मचारी, तथाकथित जनसेवक आदि जनतंत्र के नाम पर लूट मचाए जा रहे हैं। कवि ने ऐसा चित्रण 'जनतंत्र' शीर्षक कविता में किया है। जनतंत्र का ऐसा बुरा हाल हो तो स्वाभाविक है—'कितना खौफनाक है माहौल'। देश में तबाही और अराजकता का बवंडर बह रहा है। कवि के शब्दों में—"खून के कतरे उड़ रहे हैं आकाश में/दर्दनाक आवाजों का यहाँ दम घुटता है।" (पृ. 57)

सवाल यह कि इस दमघोंटू वातावरण से मुक्ति का उपाय क्या है? मुक्तिबोध की भी एक चिंता थी—"मेरे शहर के लोग कब शिक्षित और सुखी होंगे?" आज के भूमंडलीकृत समाज में सबसे बड़ा संकट मनुष्यता के सामने खड़ा है। मनुष्य बचेगा तो सभ्यता बचेगी। संस्कृति फलेगी-फूलेगी। लेकिन मनुष्य हो तब न! कवि उस मनुष्य की तलाश में है। रघुवीर सहाय ने लिखा है—"लोग लोग लोग/मार तमाम लोग।" लोगों की लंबी कतार और बड़ी भारी भीड़ भी। मनुष्य की खोज में निकला कवि थका-मांदा बैठ जाता है। आत्मान्वेषण करते हुए कहता है—"दरअसल/मैं आदमी को खुद में/ढूँढ़ रहा था।" हाँ, इस कवि का मनुष्य हाड़-मांस से निर्मित है। गुण-दोष से समन्वित। यह न देवता है और न दानव। दिविक रमेश की कविताएँ मनुष्य और मनुष्यता का अन्वेषण करती हैं। थकाऊ यात्रा के पश्चात् भी लेखक निराश नहीं है, हताश भी नहीं। समकालीन कविता का एक यशस्वी नाम दिविकजी ने लिखा है—"मैं थक गया हूँ तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते/कहाँ हो तुम/पर मैंने माना है/खुद को टटोलते-टटोलते जाना है/तुम हो तो जरूर।" (पृ. 38)

इसलिए पेड़, हवा, मिट्टी, आकाश, पहाड़, आग, पानी संकल्प करते हैं आदमी को बचाने के लिए। आदमी बचेगा तो सब कुछ बचा रहेगा। कहीं उसे ग्रस्त न कर ले पाशविकता अथवा हिंस्रता—"हमें बचाना है आदमी को/खुद अपने माथे पर लोहा गाड़ने से,/दबोचने से गला/अपने सबसे मासूम हिस्से का।" (पृ. 106)

कोलकाता के रास्ते पर नंगे पैर रिक्शा खींचने वाले बिहारी भाई के विलक्षण बिंब खड़े करने में दिविक रमेश को बड़ी सफलता मिली है। यूँ यह कविता 'वह खींचता रिक्शा कलकत्ते में' कवि की प्रतिभा का परिचायक है। इस लंबी कविता में कवि अपने भावों को संकेंद्रित किए हुए हैं। इसमें काव्य-संवेदना का उभार है। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का समावेश हुआ है। विद्रोह और व्यंग्य तो है ही। रिक्शे वाले के परिवार की दुःखद गाथा और आने वाले दिनों में उसके

बेटे का भवितव्य दोनों मिलकर पाठकों के मन में विद्रोह और करुणा उत्पन्न करते हैं। ध्यान देने योग्य है कि कवि ने उस रिक्शे वाले की सामर्थ्य और सीमा दोनों को चित्रित किया है। इसलिए, वह मसीहा नहीं, आम आदमी के रूप में जीता-जागता मनुष्य है। किंचित् क्षोभ, व्यंग्य और संवेदना को समेटती पंक्तियों पर गौर करें—"खींच/सहनशीलता के देवता-मंडित हो-होकर/सुंदर विशेषणों से/ढोता रह/लद्दू आस्थाओं को।" (पृ. 99)

कवि की सामाजिक पक्षधरता नारेबाजी का रूप नहीं लेती। कवि की कविताई रूपवाद के मोह का शिकार नहीं बनती। दिविक रमेश की यह प्रगतिशीलता भी है और परंपरा में जीने की ललक भी।

कविता में अनायास आ गए लोक-भाषा या अन्य भाषा के शब्दों से इस कवि की कविताओं को खास रूप से पहचाना जा सकता है। यह कवि के लोक से जुड़ाव का भी परिचायक है। झरीट (खरोंच), ठाढ्ढ़ी (खड़ी), बिचासते (जानते-समझते), चहणियाँ (श्मशान) आदि के प्रयोग से कवि अपने अंदर जीवित गाँव या लोक को उघाड़ता है।

कवि की तमाम कविताओं का जिक्र करना न तो संभव है और न उचित है। लेकिन, 'जिजीविषा', 'काम करता हुआ आदमी', 'जैसे इमारत को वह बच्चा', 'जानवरों के खिलाफ' शीर्षक कविताएँ अत्यंत प्रभावशाली हैं। संभवतः इसलिए निर्मला जैन ने दिविक रमेश की कविताओं के संबंध में लिखा है—"दिविक रमेश रचनाकार के रूप में एक ऐसी शख्सियत है; जिन्होंने आधुनिक रचनाकारों की अग्रिम पंक्ति में अपनी जगह बनाई है। दिविक रमेश की कविता साधारणता में असाधारणता की प्रतीक है। कविता में न तो कलावादिता के प्रति मोह है और न ही चमत्कार उत्पन्न करने का लोभ। कवि ने अपने भावों की सहज अभिव्यक्ति पर बल दिया है। फलस्वरूप, उनकी कविता पाठकों के लिए न तो दुरूह बनती है और न बौद्धिकता की क्रीड़ा। दिविक रमेश की कविता पाठकों को आश्वस्त करती है, विश्वसनीय लगती है। यह दिविक रमेश के कवि-कर्म की सबसे बड़ी सामर्थ्य है।"

□□□

बहुमुखी जीवन की बहुआयामी कविताएँ

पाब्लो नेरूदा ने लिखा है कि उन्होंने किसी पुस्तक से कविता लिखने का गुर नहीं सीखा। जीवन के गहन अनुभवों ने उन्हें सूझ दी और यही उनकी कविता-यात्रा का पाथेय बना। जीवन का अनुभव सत्य ही उनके लेखन की पूँजी था। वे झूठ, मक्कारी, शोषण का नाश कर सत्यं शिवं सुन्दरम् की कल्पना करते थे। 'उनके शब्द रक्त से उत्पन्न होते थे, अँधेरे में स्पंदित होते थे तथा मुँह और होठों से निकलते थे।' सचमुच, कविता लिखी नहीं जाती, लिख जाती है। घनानंद ने कहा भी है—"मोहि तो मेरो कवित्त बनावत"। शशिभूषण शीतांशु हिंदी के प्रखर आलोचक तो हैं ही, अच्छे कवि भी हैं। उनका कहना है—"मैं अपनी कविता को कविता न कहकर भविता कहता हूँ। भविता—जो हो जाती है, भविता, जो अस्तित्व बन जाती है। एक तो यह सारा संसार भव है, हुआ हुआ है, उसमें जो कुछ घटता है वह एक प्रकार की भविता है और उसका जो अक्स संवेदनशील चित्त पर नक्श होता है और फिर व्यक्त होता है वह भी भविता ही है।" (आत्मकथ्य, स्थगित हैं यात्राएँ, नौ) शीतांशुजी के लिए कविता सायास नहीं, अनायास होती है। जीवन जगत् के अनुभवों को शब्दों, को रूप प्रदान करते हैं तो वह कविता बन जाती है। जब कोई भाव, विचार या विषय कवि को आंदोलित करता है और कवि उससे उद्वेलित होता है तो उसे बेचैनी होती है। उस बेचैनी से राहत पाने की अभीप्सा में कवि अपने संवेदन-स्पंदन और चिंतन को अभिव्यंजित करता है। अब सवाल यह खड़ा हो सकता है कि कवि को कौन-से भाव, विचार अथवा विषय चिंतित करते हैं? शीतांशुजी की कविताओं के संदर्भ में इनका संबंध व्यक्ति से लेकर विश्व तक व्याप्त है। व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, अध्यात्म, राजनीति, संस्कृति और लोक से संबंधित आपकी कविताओं का रेंज काफी बड़ा है, व्यापक है। इन कविताओं में जितना अतीत मूर्त हुआ है उतना वर्तमान भी। समकालीन जीवन के तमाम घात-प्रतिघात हैं तो भविष्य के सुनहरे सपने भी। यूँ कहा जा सकता है कि इन कविताओं में अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक ही सूत्र में पिरोने या समन्वित करने का सुंदर प्रयास है।

हिंदी आलोचना जगत् में अपनी लगभग पच्चीस किताबों से खास पहचान बना चुके

शीतांशुजी की कविताओं में पहचान का संकट स्पष्ट रूप से उभरता है। यह पहचान का संकट व्यक्ति का हो सकता है अथवा समाज का, जाति का हो सकता है अथवा राष्ट्र का। शीतांशुजी की कविताएँ न तो मनोरंजन का साधन बनकर आती हैं और न ही बैठे ठाले के काम के रूप में पाठकों से रू-ब-रू होती हैं। अतः आपकी कविताएँ संवेदित प्राण की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति हैं। शीतांशुजी की कविताओं की मूलभूत संवेदनाओं पर विचार करने के पहले आत्मकथ्य के निम्नलिखित अंश को उद्धृत करना अनुचित न होगा—"मेरी कविता के मूल में दर्द और पीड़ा का स्पंदन है। यही स्पंदन अनेक हाशियों में, अनेक रूपों में अपने को अभिव्यक्त कर गया है। मेरी कुछ कविताएँ जहाँ दृष्टि प्रमुख हैं, वहीं कुछ कविताएँ दर्द के अग्र-पश्चगामी आवर्तों के साथ उभरी हैं।" (पूर्ववत्, पृ. 8) यानी शीतांशुजी उस परंपरा को अग्रगामी बना रहे हैं जिसमें कवि ने कहा था—"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान, निकलकर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।" कवि का कर्म-धर्म कविता लेखन है। कविता लेखन फैशन नहीं है, पैशन है।

शीतांशुजी की काव्य-यात्रा गीत, प्रगीत, नवगीत से होते हुए कविता तक पहुँचती है। इनकी कविताओं को आप किसी वाद या धारा के अंतर्गत रखकर जाँच-परख नहीं सकते। ये किसी स्कूल विशेष की भी नहीं हैं। किसी कैंप की तो बिल्कुल नहीं। इन्हें किसी भी वाद या आंदोलन की कविताओं के रूप में भी विश्लेषित नहीं कर सकते। स्वतंत्रचेता कवि की रचनाएँ किसी प्रचारधर्मिता के लिए भी नहीं हैं। इसका मतलब यह भी नहीं है कि इस कवि ने समकालीन हिंदी कविता की एक नई धारा बनाई है या ऐसा दावा पेश किया है। चूँकि कविता उनके लिए सदा से भविता रही है, इसलिए वे लिखते हैं—"जीवन जगत् के अनुभावन से मेरे भीतर जो मेरे संवेदनशील चित्त पर अनुक्रिया होती रही है, उसकी अभिव्यक्ति आरंभ में एक लय-गूँज-सी होती थी और साथ ही वाग्सृष्टि हो जाती थी। लगभग सात वर्ष की अवस्था से यह भविता मेरे साथ जुड़ी हुई है। संवेदन-स्पंदन, अनुभावन, चिंतन और अभिव्यंजन इसके प्रक्रियाई चरण रहे हैं। आज भी यह अभिव्यक्ति मुझे आह्लाद देती है और मैं भूख-प्यास, कर्त्तव्य, दायित्व सबसे पराङमुख अपनी सृष्टि के प्रति प्रतिबद्ध हो उठता हूँ।" यहाँ कवि की रचना-प्रक्रिया है और प्रतिबद्धता है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कवि मार्क्सवाद या किसी दूसरी राजनैतिक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। परंतु वह प्रतिबद्ध है 'इस सृष्टि के प्रति।' इसलिए, उनकी कविताओं में समाज की चिंताएँ बार-बार उभरती हैं। देश की समस्याएँ मौजूद रहती हैं। काल में व्याप्त विडंबनाएँ चित्रित हुई हैं। परिवेशजन्य विवशताएँ अंकित हैं। हृदय में उमड़ने वाले 'दर्द के ताप' रूपायित हुए हैं। अतः शीतांशुजी की कविताएँ "व्यापक पर्यवेक्षण और गहन संवेदन-अनुभावन की कुक्षि से प्रसूत हैं। व्यष्टिबोध और समष्टिबोध से भरी कविताओं में आद्यंत विडम्बना व्यंग्य और आक्रोश के स्वर विद्यमान हैं।" कवि की कविताओं से गुजरकर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि द्वारा चित्रित भाव तो मेरे हैं, मैंने भी तो ऐसे सोचा था, मैं भी कभी इस प्रकार चिंताग्रस्त हुआ था, व्यंग्य

करने के लिए शब्दों को तरासा था। अर्थात्, कवि की कविताएँ व्यष्टि बोध से समष्टिबोध की यात्रा करती हैं।

शीतांशुजी की कविताएँ अपने पाठकों से संवाद करती हैं। इस प्रकार वे पाठक से जुड़ती चली जाती हैं। यह संवाद अत्यंत आत्मीयतापूर्ण है। फलस्वरूप, पाठक भी कविता से बड़ी आत्मीयता से जुड़ता चला जाता है।

1947 में भारत आज़ाद हुआ। परंतु, प्रेमचंद के शब्दों में कहा जाए तो 'जॉन की जगह गोविंद' बैठ गया। गोरों के स्थान पर काले बिठा दिये गये। शासन का तौर-तरीका पूर्ववत् बना रहा। दिखावे के नाम पर गणतंत्र। गोरों के अत्याचारों और दमनों को पछाड़कर काले अत्याचार और दमन-शोषण में लिप्त रहे। आमजन त्रस्त और आतंकित हो उठा, सत्ता और पूँजी की साँठ-गाँठ से शोषण करने वाली शक्तियों को अधिक प्रोत्साहन मिला। आतंक और दहशत भरे माहौल में यात्रा का स्थगन होना स्वाभाविक है। मंदिरों और गुरुद्वारों में जन ने पनाह ले ली। स्वाभाविक जीवन-यात्रा थम जाती है, रुक जाती है। लेकिन, यात्राएँ भला कभी रुकती हैं? जीवन-यात्रा तो सदैव जारी रहती है। कवि के शब्दों में—

''यात्राएँ नहीं रुकतीं/प्रकृति में, जंगल में/समतल पर/सरिता-समंदर पर/अंतरिक्ष पर!/यात्राएँ जीवन हैं/प्रकृति से मानव तक/जीवन के विकास की/गतिविधियाँ हैं, स्वभाव हैं/....हर कहीं/ निर्बाध हैं।''

बारूदी धुएँ से भरी हैं हवा। दहशत में जीता जनजीवन। क्रूरता का वातावरण भयार्त आमजन। कवि ने इस स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है—''नंगी चाँदनी रात में/सुलगती आग धाएँ-धायँ—/परछाइयाँ/सुहागिनों के सुहाग की/लाली पिये/और भी धधकती हैं। छपते हैं सुर्खियों में समाचार/हॉलोकास्ट'' यह हॉलोकास्ट क्या है? कहना न होगा कि यह बीसवीं सदी का सर्वाधिक भयानक हादसा है। यूरोपीय सभ्यता का एक आघात है। नाजियों की इस सुनियोजित रणनीति के तहत साठ लाख यहूदियों को गोलियों से भूनकर, गैस चैंबर में डालकर मार डाला गया था। नोबेल विजेता उपन्यासकार इमरे कार्टिज़ भी इस हॉलोकास्ट के भुक्तभोगी थे। इतिहास की घोर बर्बरता का दूसरा नाम है हॉलोकास्ट। शीतांशुजी ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के पंजाब की नरसंहार लीला और उसकी भयावहता के चित्रण करने के लिए हॉलोकास्ट शब्द को स्थापित कर दिया है। शब्दों की मितव्ययिता का ऐसा सुंदर उदाहरण कम ही स्थलों पर मिलेगा।

'स्थगित हैं यात्राएँ' कवि की एक लंबी कविता है। ऐसी और भी कई लंबी कविताएँ कवि की हैं। जैसे, 'सनातन लोकपाल', 'मैं गाँव नहीं रहा, शहर हो गया हूँ', 'मेरा मातम', 'एक अदद मौत', 'नष्ट जल : नष्ट नेत्र', 'शहर अमृतसर' लेकिन कुछ और बातें 'स्थगित हैं यात्राएँ' की। इस कविता को पढ़ते हुए बार-बार मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' की याद आती है। मुक्तिबोध ने लिखा था—''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे/ तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब''। शीतांशुजी का काव्य-नायक उन खतरों को उठाने की हिम्मत करता है तो उसकी स्थिति कुछ ऐसी बन जाती है—''सेतु बनने वालों की/नृशंस हत्याएँ!/अभिव्यक्ति की/निर्भीकता को उन्मुख की/धमक हत्याएँ!/धर्म के/तथाकथित गद्दारों की/पवित्र हत्याएँ!'' संतों के प्रांत, मुनियों की भूमि पंजाब में तांडव फैलाकर खांडव जलाने वालों पर कवि का आक्रोश है। मानवता की हत्या से वह दुःखी है। मनुष्य का मनुष्य पर गहराते अविश्वास पर वह पीड़ित है। केवल वैयक्तिक अहं के चलते मृत्यु का भुतहा खौफ और संत्रास का सर्प! कवि सावधान करते हुए कहता है कि केवल सत्ता और संघर्ष का इतिहास नहीं होता है—''इतिहास/शांतिप्रिय/जनता का भी होता है।'' कवि की पीड़ा व्यंजित होती है—''पिछले कई महीनों से/कई वर्षों से/फूल नहीं खिले/पंजाब में।'' 'क्रूएलेस्ट एप्रिल' को 'स्वीटेस्ट मंथ इज ए एप्रिल' बनाने की जद्दोजहद करने वाली कविता है 'स्थगित हैं यात्राएँ।' यह एक बहुआयामी कविता है। इसमें पंजाब का सुनहरा अतीत और लुंजपुंज हो रहा वर्तमान दोनों विद्यमान हैं। धर्म और राजनीति के सौदागरों से पंजाब को क्षत-विक्षत से बचाए रखने के लिए भविष्य के सुनहरे सपने भी हैं। शीतांशुजी की अन्य कविताओं की भाँति यह भी मुक्तिबोध की 'कहन' शैली में रची गई है जिससे कविता की जबर्दस्त पठनीयता बनी रहती है।

'स्थगित हैं यात्राएँ' की पूरक कविता है 'शहर अमृतसर'। इसमें कवि ने इस शहर की जिंदादिली, आत्मीयता, सुदीर्घ परंपरा, संस्कृति आदि की विशेषताओं को चित्रित करने के साथ-साथ उसे 'अमृताकाश' से नामित किया है' कवि ने अमृतसर से अपने लगाव-जुड़ाव को भी दर्शाया है। बिना किसी लाग-लपेट के कवि कहता है-''अमृतसर का अपना छंद है। अपनी सुगंध है/ इसके समान/और शहर मुझे नहीं लगते/बाहरी छलावे/और भुलावे/ मुझे नहीं छलते।'' बिहार में पला-पढ़ा, शिक्षा-दीक्षा प्राप्त इस कवि को अमृतसर ने पिता की तरह अनुभव प्रदान किया है, माता की तरह वात्सल्य से सराबोर किया है, भाई की तरह साथ दिया है और मित्र की तरह सलाह दी है। विरल प्रेम का नमूना है यह। कवि के इस अमृतसरी प्रेम से यदि वे लोग कुछ सीख लेते जो प्रांतीयता, आँचलिकता, जाति-धर्म-भेद आदि के आधार पर हिंसा व दहशत फैलाते रहते हैं तो देश कितना सुंदर बन जाता!

कवि ने मिथकीय आख्यान का सहारा लेते हुए एक और लंबी कविता लिखी है—'सनातन लोकपाल।' 'महाभारत' में द्वापर की राज सभा में तमाम ज्ञानी, गुणी, बुद्धिजीवियों की उपस्थिति में जूए के दाव पर हारी गई द्रौपदी को निर्वस्त्र करने की चेष्टा होती है तो केवल दुर्योधन का अनुज विकर्ण प्रतिरोध करता है—''स्त्री संपत्ति नहीं होती पुरुष की/जिसे कोई जूए में दाव पर लगा दे।'' इस कविता में स्त्री-विमर्श का पाठ है लेकिन भिन्न दृष्टि से। हाँ, 'महाभारत' की कथा की पुनर्प्रस्तुति कवि का उद्देश्य नहीं है। इसकी कथा को आधुनिक संदर्भ में पेश किया गया है। लोकपाल अर्जुन सिंह ने सत्य और न्याय का साथ दिया। संत्रास और आतंक की छाया में डूबे पंजाब में फैले उग्रवाद को चुनौती दी। 'मनुक्खी धर्म' का निर्वाह किया। कवि के शब्दों में—''विकर्ण की तरह ही/तुम्हारा भी कोई इतिहास नहीं

होगा—/क्योंकि इतिहास सदैव/सत्ता और प्रशासन का/होता है।'' कहा जाना चाहिए कि मानुष-धर्म और मानव-मूल्य को प्रोत्साहित करने वाली कविता है 'सनातन लोकपाल'।

जब यह कहा जाता है कि भारत गाँव में बसता है तब गाँव का आशय कच्ची सड़क, कच्चे मकान, गरीबी, बिजली की अनापूर्ति आदि नहीं होता है। गाँव का अर्थ प्रेम, विश्वास, भाईचारा, भरोसा, दया, करुणा, सौहार्द तथा मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत जीवन मूल्य हुआ करता है। मानव मूल्यों का अभाव जहाँ लक्षित होता है वह स्थान शहर अथवा नगर कहलाता है। वहाँ अविश्वास, घृणा, उपेक्षा, अहमन्यता और तमाम दुर्गुण भरे रहते हैं। 'मैं गाँव नहीं रहा, शहर हो गया हूँ' इस भावबोध की कविता है। गाँव से शहर हो जाना प्रगति का सूचक नहीं है। मूल्यों के विनाश का द्योतक है। गाँव से शहर होना उत्कर्ष का उदाहरण नहीं, अपकर्ष की मिसाल है। गाँव यानी जहाँ **संबंधों** की उष्मा जीवित है। मनुष्य और मनुष्य के बीच का रिश्ता है। अटूट है यह रिश्ता। रिश्ते की डोर मजबूत है, लंबी है यानी व्यापकता ली हुई है—''रिश्तों की/बड़ी समझ/बरगद/और पीपल की तरह—'' माना कि गाँव में अभाव है। असुविधाओं का अंबार लगा हुआ है—''फिर भी कोई ततैया नहीं है/भारतीय गाँव''। इसके बनिस्बत जो शहर चित्रित हुआ है उसमें न कोई अतिशयोक्ति है और न कृत्रिमता। खुदगर्जी, कुटिलता, कपटता आदि क्या नहीं है? मजे की बात है कि कवि की दृष्टि में गाँव और शहर स्थानवाची नहीं प्रवृत्तिमूलक हैं—''मुझे/याद आता है दुर्योधन/जो गँवार द्वापर में/अकेला शहराती था।'' समय की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि आज का व्यक्ति—''जरूरी जहर से/ बचने के लिए/अब बहुत तलख ज़हर हो गया हूँ।'' भारतीयता को बचाए रखने की तीव्र ललक कविता में स्पष्ट झलकती है। अरबी, फारसी, अंग्रेजी शब्दों के अनायास प्रयोग से कविता प्रभावशाली बनी हुई है।

एक सहृदय तथा संवेदनशील कवि (इसके भी पहले मनुष्य) की युगीन चेतना को सगुंफित करती है कविता 'मेरा मातम'। यह मातम इसलिए नहीं कि किसी आत्मीय की मृत्यु हुई है। मातम इसलिए कि कवि ने लक्षित किया—'सामंती संस्कार में डूबे हुए', 'घोर पतन में डूबे हुए' लोग हैं और अपकर्ष होता जा रहा है। 1954 में दिनकरजी द्वारा घोषित 'समर शेष है', 1964 में 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाने के लिए मुक्तिबोध के आह्वान को निष्फल बना दिया गया बड़ी निर्लज्जता के साथ, इसलिए मातम है। कवि का मानना है कि क्रांति के बिना कोई परिवर्तन या विकास नहीं हो सकता। सड़क पर उतरना जरूरी है। शासन व प्रशासन भ्रष्टाचार में लिप्त है। घोटाले पर घोटाले होते जा रहे हैं। नेता करोड़ों तो क्या अरबों डकारे जा रहे हैं। सत्ता पूरे देश को गिरवी रखने के उतारू है। लेकिन—''कवियों/कलाकारों और बुद्धिजीवियों की/मुखरता के बावजूद/जनता के/निष्क्रिय रह जाने का/मातम हैं!'' इस कविता का पाठ करते हुए 'धूमिल' की 'पटकथा', 'मोचीराम' जैसी कविताएँ इसलिए याद आती हैं कि कवि का आक्रोश, विद्रोह और उसकी क्रांतिकारिता रूपायित करती है कविता 'मेरा मातम'। समय के सच को भी कवि ने जिस रूप में उकेरा है, वह स्तुत्य है। यह समय

बाज़ार का है। भूमंडलीकरण के दौर में वस्तु का ही नहीं, मनुष्य का भी एक मूल्य निर्धारित हो चुका है। मूल्य का एक ही आशय रह गया है, बाज़ार मूल्य यानी मार्केट वेल्यू। बाज़ार की दृष्टि में सब कुछ विकाऊ है। यह है आज का युग सत्य। इसे आप यथार्थ भी कह सकते हैं—''इस प्रजातंत्र में/प्रजा भी बिकती है/राजा भी बिकता है/और बिका हुआ आदमी ही/इतिहास लिखता/तथा/भविष्य बाँचता है।'' इस खरीद-फरोख्त की लीला में मानवता के सामने खड़े संकट को देख कर कवि का मातम घनीभूत हो उठता है। प्रस्तुत तथा अन्य कविताओं में गाहे-ब-गाहे लोक झाँकता रहता है। न जाने कितने शब्द लोक से बेहिचक पिरोये गये हैं कविता में तथा कितने लोक-जीवन के शब्द चित्र उकेरे गये हैं। दरअसल, ऐसी कविताएँ ही टिकाऊ होती हैं। ऐसी कविताओं के ही स्थायी मूल्य रहते हैं। अन्यथा, रोज लिख-छप रही हजारों कविताओं का क्या हश्र होता है, यह हम सभी जानते ही हैं। 'हहास', 'हँचड़', 'खलास', 'नेता-जेता' शब्दों के सही प्रयोग के बाद कवि के निम्नलिखित भाव से अवगत हुआ जा सकता है—''कभी दाग कर/देहातों में/साँड छोड़े जाते थे/अब/नस काटकर/नपुंसकों की जमात/छोड़ी जाती है।'' दरअसल, शीतांशुजी की कविताएँ जितनी संप्रेषणीयता से युक्त हैं उतनी ही प्रभविष्णुता से भी।

शीतांशुजी की कविता 'एक अदद मौत' को शोकगीत कहा जा सकता है। निराला की पुत्री सरोज 'ऊनविंश पर प्रथम चरण' की थी यानी अट्ठारह वर्ष पार कर चुकी थी, परंतु यहाँ अट्ठारह महीने, अट्ठारह दिन और अट्ठारह घंटे के बाद बीमारग्रस्त पुत्री का निधन हो जाता है। इस व्यथा-कथा को कविता में अभिव्यक्त किया गया है। इस कविता की खूबी यह है कवि वैयक्तिकता के साथ कविता की शुरुआत जरूर करता है लेकिन कविता सार्वजनीन भाव को संपन्न करती है। कविता के मध्यभाग में पुत्री की स्मृति जरूर है लेकिन कविता के उत्तरार्ध में सरकारी अव्यवस्था, प्रशासनिक अराजकता और भारत में चिकित्सा विज्ञान की असफलता पर व्यंग्य है। निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

(क) ''उसकी आत्मा/आज़ाद भारत के मुखौटे पर/आग में तपे हथौड़े की तरह/तेज़ जोरदार/तमाचा मारती है।''

(ख) ''एक भ्रूण के 'एबॉर्शन' की तरह/अपूर्ण निर्माण की/प्रक्रियाई मौत होती है।''

(ग) ''प्रतिभा/शूद्रक की राज्यलक्ष्मी की तरह/सिसकती है/और/एक अदद मौत होती है।''

(घ) ''खिचड़ी बालों वाला/मिनिस्टर/सेक्रेटरियट में/चिकनी ख्रम चर/अपने खूँटे पर आ/पागुर करता है।''

(ङ) ''ऊँची-ऊँची कुर्सियों पर/बैठे लोग/अर्हताओं की सीढ़ियों से होकर/ऊपर नहीं चढ़ते''।

पुत्री की मृत्यु का संबंध वैयक्तिक चेतना से है। परंतु, पूरे देश-काल और वातावरण में फैली हुई अव्यवस्था समष्टि चेतना से संबंधित है।

कवि की राजनीति चेतना हेतु 'मादकता कुर्सी की' और 'कुर्सी : शब्दकोश में और जीवन में' शीर्षक कविताएँ पढ़ी जा सकती हैं। दूसरी कविता में कवि ने लय, तुक आदि का विशेष ध्यान रखा है। लेकिन, निहितार्थ, व्यंग्य और विडंबना का जो बेजोड़ चित्रण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

"अब कुर्सी ही सभ्यता/अब कुर्सी ही संस्कृति है!/कुर्सी ही हर दर्शन और चिंतन की/केंद्रीय प्रवृत्ति है।"

'मैंने देखा', 'बीसवीं सदी' आदि कविताओं का पाठ भी इसी संदर्भ में किया जा सकता है।

हमारी भारतीय परंपरा में कहा गया है 'कविरेव प्रजापति:'। कवि को ब्रह्मा माना गया है। पता नहीं, कवि ब्रह्मा है कि विष्णु अथवा महेश्वर लेकिन, कवि एक सामाजिक प्राणी जरूर होता है। इस नाते एक मनुष्य पहले होता है बाद में कवि। मनुष्य समाज में रहता है। अत: ऐसा नहीं हो सकता है कि वह समाज में रहकर समाज की घटनाओं, गतिविधियों आदि से अपना नाता तोड़ ले। अगर ऐसा कर पाता है तो पता नहीं, वह कवि पदवाच्य है भी कि नहीं। शीतांशुजी समाज तथा राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं से अप्रभावित नहीं हैं। एक संवेदनशील व्यक्ति हो भी नहीं सकता है। 'बाबरी मस्जिद', 'कारगिल' अथवा 'नष्ट नेत्र' जैसी कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

बाबरी मस्जिद पर लिखी दो कविताओं के माध्यम से कवि सांप्रदायिक सौहार्द और भाईचारा को बलवती करने के लिए आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया की उस खोजपरक अखबारी कतरन का इस्तेमाल करता है जिसमें यह दावा पेश किया गया था कि 'मुसलमानों के बाबरी संप्रदाय' में कभी एक श्री रामभक्त कवयित्री दीवानी, बावरी हुआ करती थी। सांप्रदायिक सौहार्द का द्योतक थी वह और उसके नामानुसार बाबरी मस्जिद का नामकरण हुआ था। बाबर तो उसके बहुत बाद का है। कवि को इस कतरन ने काफी उद्वेलित किया। फिर कवि को तुलसी की वे पंक्तियाँ स्मरण हो आईं—"माँग के खाइबो, मसीद पे सोइबो।" कुछ तो है जिससे बाबा तुलसी 'मसीद' की बात करते हैं। मूल आशय यह कि कवि ने इस कविता के माध्यम से अपनी सामाजिक भूमिका का पूर्ण निर्वहन किया है। बावरी के माध्यम से कवि का आग्रह है—"मैं तुम्हारी सामासिक संस्कृति की/मध्यकालीन प्रतीक हूँ/मैं भारत की बाबरी मस्जिद हूँ/मुझे कुस्तुनतुनिया की मस्जिद/मत बनाओ।"

इस संदर्भ में कवि की विशिष्ट शैली में लिखी गई 'नष्ट जल : नष्ट नेत्र' कविता भी उल्लेखनीय है। मद्रास यानी चेन्नई के मेटुर ताल्लुक में 'धनम' नामक प्यासी दलित बालिका पर प्याले भर पानी के लिए जो अमानुषिक अत्याचार होता है, वह अत्यंत लज्जास्पद है। धनम को अपना नेत्रधन खोना पड़ता है। वर्ग, जाति और वर्ण भेद के बुरे वक्त में भारत की दुर्दशा के चित्र खींचे गये हैं। एक बेहतरीन कविता है यह।

उल्लेख किया जा चुका है कि शीतांशुजी की कविताओं में वैयक्तिकता पारिवारिक,

सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक परिदृश्य विद्यमान हैं। कवि ने 'माँ', 'पिता', 'सत्य' और 'आईना' शीर्षकों से सीरीज में कविताएँ लिखी हैं। जैसे 'माँ' और 'पिता', के लिए चार-चार तो 'सत्य' और 'आईना' के लिए पाँच-पाँच कविताएँ लिखी हैं। इन शृंखलाओं में कवि के 'मैं' को मूल्यांकित किया जा सकता है तो उसके देश-काल को भी। इनमें कवि का दर्शन और दृष्टि जाहिर होते हैं तो उसकी कला निपुणताएँ भी। पेंशनजीवी पिता के शतायु होने की कामना पुत्र इसलिए करता है कि घर में रुपये आते रहें। 'स्वार्थस्य सर्वे वशाः'। पीढ़ियों में दरार, संबंधों में दरार आदि को भी पिता सीरीज की कविताओं में बड़ी बारीकी से दिखाया गया है।

हिंदी के वरिष्ठ कवि, आलोचक और संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी माँ को केंद्रित कर कई बेहतरीन कविताएँ लिखी हैं। शीतांशुजी की 'माँ' सीरीज की कविताएँ भी काफी प्रभावशाली हैं। 'माँ (3)' में दादी माँ की यंत्रणा चित्रित है तो 'माँ (1)' संतानों के बीच परिक्रमा करने वाली माता की मन:स्थिति की अभिव्यक्ति है जबकि 'माँ (2)' में कवि का माता के प्रति भाव प्रकट होता है। सघन रूप में—"अब मैं हर माँ में/अपनी माँ को खोजता हूँ।"

'सत्य' सीरीज की कविताओं में हम कवि को अपने समाज और समय से संपृक्त पाते हैं—"इस नि:शब्द मौन में/असत्य को/सत्य मान लेने का/यह कैसा/विडंबनात्मक उत्कर्ष है।" विडंबनापूर्ण समय की चुनौती को स्वीकार करते हुए कवि अपनी दृढ़ आस्था को बुलंद आवाज में प्रकट करता है—"इस 'भविता' से ही/असत्य के उमड़े/काले बादलों को/मिटाया जा सकता है।" कविता लिबरेट करती है, सब्लिमेट करती है 'बस इसकी शक्ति को पहचानने की आवश्यकता है।'

समकालीन हिंदी कविता में शीतांशुजी की आवाज़ सबसे भिन्न है। सबसे अलग। उन्होंने अपनी राह स्वयं निर्मित की है। दूसरों के बने-बनाये मार्ग पर चलना उन्हें पसंद नहीं। वे जानते हैं समकालीन कविता में प्रचलित सीमाबद्धता को। तभी वे कहते हैं—"आज कविता दुरावस्था में पड़ी है। कविता वही जो शिविर-विशेष की विचारधारा के अनुरूप लिखी जाए। कविता एक 'ब्राण्ड मार्का' हो गयी है। कविता में आरोप-प्रत्यारोप, संघर्ष, विचारधारा, सामाजिक यथार्थ और प्रतिबद्धता—इन्हीं का बोलबाला है। इसके अतिरिक्त एक काव्य-संसार चमत्कारिक अबूझ कविताओं का भी है। इस अंदाजे-बयाँ के साथ-साथ आज कविता महज एक खिलवाड़ होकर रह गई है।.... पर कविता अश्वी नहीं है, जिसकी वश्या किसी घुड़सवार के हाथ में हो और वह जिधर चाहे कविता को दौड़ाता ले जाए। जीवन बहुमुखी है, बहुआयामी है और मानव चित्त अत्यंत संवेदनशील है। उसकी संवेदना कुंठित करके एक ही प्रकार के उद्बोध से उसे आच्छन्न कर देना कविता का जीवन नहीं, कविता की मृत्यु है।"

हमें अपने साथियों को बचाना है डूबते जहाज से

कविताएँ भी खलनायकों को ख़त्म कर देती हैं
और धीरोदात्त नायकों की अदा में
समस्त पाठकों को नायिका समझने लगती हैं।
एक विशेष आकलन के अनुसार
कविता के पाठकों की संख्या कम होने का
कारण यही है।

—ए. अरविंदाक्षन

ए. अरविंदाक्षन हिंदी के कवि हैं। दक्षिण भारत के कवि नहीं हैं। हिंदीतरभाषी कवि नहीं हैं। हिंदीतर क्षेत्र के कवि भी नहीं हैं। दरअसल, 'बाँस का टुकड़ा', 'घोड़ा', 'आसपास', 'सपने सच होते हैं', 'राग लीलावती', 'असंख्य ध्वनियों के बीच' कविता संकलनों से गुज़रने के बाद अरविंदाक्षन को केरल, दक्षिण भारतीय या हिंदीतर भाषी कवि के रूप में सीमित करना अनुचित है, अन्याय भी। उनकी कविताओं में स्थानीय रूप, गंध, स्पर्श अवश्य मौजूद है लेकिन, वे महज स्थानीयता के कवि नहीं हैं। अरविंदाक्षन हिंदी के समर्थ कवि हैं। यह अलग बात है कि उनकी कवि-सामर्थ्य का आकलन उस रूप में नहीं हुआ है जिसके वे हक़दार हैं। विमर्शों की उठा-पटक और स्थानीयता की मार-काट में अरविंदाक्षन की कविताएँ अलक्षित रह गई हैं।

अरविंदाक्षन व्यापक संवेदना के कवि हैं। क्रूर समय, मानव-जीवन के विविध पक्षों पर्यावरण संकटों, स्त्री-जीवन के दुःखों, आत्महत्या करते किसान, जीव-जगत् आदि पर कवि की संवेदना व्याप्त है। उनकी कविताओं में संपूर्ण दुनिया के प्रति कवि का संवेदनशील मन झाँकता नज़र आता है। कवि ने कहा भी है—"मेरे आसपास इन्सानों के अलावा चींटियों, मकड़ियों, छोटी-बड़ी चिरैयों, कौओं, कुत्तों और बिल्लियों का संसार है। किसी को मैं नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता, क्योंकि मेरा संसार उन्हीं में से एक है।" ('आसपास' की भूमिका) कवि अरविंदाक्षन अपनी संवेदना को अभिव्यक्त करने के लिए कई बार

पौराणिक कथाओं और मिथकों का प्रयोग करते हैं और उसे समकालीन संदर्भों से जोड़कर नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

प्रेमचंद के हल्कू और होरी की स्थिति अत्यंत भयावह होती जा रही है। वे दग्ध हो रहे हैं। उनका जीवन कष्टमय हो रहा है। भयावह पीड़ा की स्थिति में आत्महत्या करने के अलावा उनके पास कोई दूसरा चारा नहीं बचा है। कर्ज़ के भार से लदे, बाढ़ या सूखा के प्रकोप से कराहने वाले किसानों का आर्त्तनाद हृदय को विदीर्ण करता है। आये दिन समाचार पत्रों में किसानों की आत्महत्या की खबर छपती रहती है। इस शोचनीय स्थिति का चित्रण करती है अरविंदाक्षन की कविता 'किसान आत्महत्या क्यों करते हैं?' हिंदी के वरिष्ठ कवि राजेश जोशी की कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' में एक पंक्ति है "काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे?" इसी प्रकार अरविंदाक्षन की इस कविता में भयावह यथार्थ निहित है। समय का सच उज्जीवित हुआ है। पाठक के मन में गहरा असर डालता है यह सवाल। धरती के पुत्र किसान जो दुनिया को अन्न-दान करते हैं उनकी आत्महत्या पूरी दुनिया के लिए चिंत्य है। इससे भारत की ही नहीं पूरी दुनिया की अर्थ-व्यवस्था चरमरा सकती है। अरविंदाक्षन किसान जीवन के इस सत्य को उद्घाटित करते हैं—

"आंध्रप्रदेश का किसान
जब आत्महत्या करता है
तब कर्नाटक का किसान
अपनी बीवी को
गले लगाते हुए
अपना
अंतिम निर्णय लेता है;
'कल की सुबह हम नहीं देख पाएँगे।'
अपने-अपने गाँवों में
ये किसान
खत्म होते जा रहे हैं।"

किसानों का खत्म होते जाना मानव-सभ्यता के लिए गहरा संकट है। इस मारक समय में किसानों का जीवित रहना बेहद जरूरी है। किसान जीवित रहेंगे तो मनुष्यता बची रहेगी। किसानों से उपजाऊ जमीन छीनी जा रही है। झूठे सपने दिखाकर उन्हें गुमराह किया जा रहा है। पूँजी के सामने किसान बेहद ठिगना प्रतीत हो रहा है। कृषि-उद्योग के बदले हथियार-उद्योग को हमारा जमाना खूब बढ़ावा दे रहा है। दुनिया के सामने उपस्थित चुनौतियों की ओर भी कवि आग़ाज करता है। दुनिया में युद्ध का माहौल बनाया जा रहा है ताकि हथियारों का कारोबार फले-फूले। सब्जी बाजार की तरह मुक्त-बाजार लगा है अस्त्र-शस्त्रों का। 'युद्ध टल गया' की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"हथियारों के कारोबार में
कुछ इधर-उधर हो सकता है।
ज्यादा नहीं
नुकसान किसी का नहीं होना चाहिए।"

हथियारों की खरीद-फरोख्त के बाद युद्ध को टाला नहीं जा सकता। युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है। उस युद्ध का स्वरूप है—

"हथियार के टूटने का स्वर
हर दिशा में गूँजता है।
आज का हर युद्ध
पूर्वानुमानित है
उसमें आदमी को सिर्फ़ शरीक होना पड़ता है।"

'दिनकरजी' की एक कविता है 'तुम क्यों लिखते हो?' इस कविता में 'दिनकरजी' का आग्रह रहा है कवि अपने अंतरतम को औरों के अंतरतम से मिलाने के लिए कविता लिखे। अरविंदाक्षन ने कविता लिखने का कारण बताया है—

"बल्कि अपने समय के साथ मैं एक सार्थक संवाद में लगा हूँ।" अर्थात् कवि अपने समय से संवाद स्थापित करने के उद्देश्य से कविता लिख रहा है। आज संवादहीनता की स्थिति सर्वत्र व्याप्त है। यह चिंता का विषय है। अरविंदाक्षन अपने समकालीन अन्य कवि से अधिक चिंतित दिखाई पड़ते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कवि का समय। कैसा है यह समय? उनका पहला कविता-संग्रह है 'बाँस का टुकड़ा' जो 1992 में प्रकाशित हुआ। माना जा सकता है कि अरविंदाक्षन की कविताएँ आठवें दशक यानी 1980 तक प्रकाशित और पढ़ी जाने लगी थीं, पाठकों को लुभाने लगी थीं। अब थोड़ी-सी चर्चा उस 'समय' की जिसके साथ कवि का—

"संवाद शुरू ही हुआ है
यही कि संवाद के लिए
मुझे बहुत कुछ करना होगा
किया ही क्या है मैंने?"

यह 'समय' पूरी दुनिया में उथल-पुथल मचाने वाला समय है। इसने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में बड़ी भूमिका निभाई। दुनिया में कुछ शब्दों के जादू छाये रहे। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, मुक्त व्यापार, विश्व ग्राम (ग्लोबल विलेज), विश्व व्यापार संगठन आदि के माध्यम से लोगों को खूब भरमाया गया, दिग्भ्रमित किया गया। झूठे दावे पेश किये गये। जब तक लोग वस्तुस्थिति से अवगत होते हैं तब तक इनके माया-जाल ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया था। पूरा विश्व बाज़ार में तब्दील हो चुका था। बाज़ार ही विश्व बना हुआ

है। यहाँ लगते हैं भाँति-भाँति के मेले। सजती हैं तमाम चमकदार दुकानें। इस बाजार में सिर्फ़ एक ही मूल्य है, वस्तु का मूल्य। वस्तु के साँचे में बाज़ार ने मनुष्य और उसकी संवेदनाओं तक को ढाल रखा है। मनुष्य की भाषा, उसकी संस्कृति, परंपरा आदि भी बाज़ार के लिए प्रॉडक्ट हैं। केदारनाथ सिंह ने 'तॉलस्ताय और साइकिल' की 'पानी की प्रार्थना' शीर्षक कविता में लिखते भी हैं—"यह बाज़ारों का समय है।" अरविंदाक्षन की कविता बाज़ार में ऐसे ही भाव प्रकट होते हैं—

"किसी भी हालत में
मैं बाज़ार नहीं बन सकता
मगर अफ़सोस की बात है
मेरी पत्नी
मेरे बच्चे
हर रोज़ बाज़ार ढोते हुए घर लौट रहे हैं।
लंबे समय तक घर बाज़ार बना रहता है
बाज़ार-घर पर बैठकर
मैं हल्के ढंग से ही कह पाता हूँ
मैं बाज़ार नहीं बन सकता हूँ।"

'हल्के ढंग से ही' सही अरविंदाक्षन का कवि बाज़ार की साज़िश का अंग बनना नहीं स्वीकारता है। यह समकालीन कविता का प्रतिरोध है। वरिष्ठ कवि व कथाकार गंगाप्रसाद विमल ने अरविंदाक्षन की कविताओं के संबंध में स्पष्टतया कहा है—"उनकी कविताओं में असहमति का एक ऐसा व्यंजन है जो रह-रहकर आस्वाद को थोड़ा और तीव्र कर डालता है, वही किसी भरे हुए पात्र को उसके रिक्त से परिचित कराते हुए खालीपन के एक निचाट से भर डालता है।" चूँकि बाज़ार को न तर्क पसंद है और न विवाद तथा संवेदना से उसका कोई मतलब नहीं होता, इसलिए कवि-प्राण उस बाज़ार की शक्तियों के सामने घुटने नहीं टेकता। घर का बाज़ार में तब्दील होना समय का गहरा संकट है। यहाँ आत्मीयता, प्रेम, सौहार्द, प्रगाढ़ संबंध आदि को पण्य-वस्तु में रूपांतरित करने के षड्यंत्र का विरोध किया गया है।

यह समय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का है। यहाँ पूँजी ही सर्वोपरि है। पूँजी ने मनुष्य को गुलाम बना रखा है। वह उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है। अपसंस्कृति फैला रही है। भोगवाद और विलास की प्रवृत्ति को उकसा रही है। जादूगर की भूमिका का निर्वहन कर रही है। अन्याय, दमन, शोषण आदि की शिक्षा से पूँजी आम आदमी को भ्रम में डाल रही है। अव्यवस्थाएँ फल-फूल रही हैं। इसके चलते मूल्यों का विघटन बड़ी तेजी के साथ हो रहा है। अरविंदाक्षन ने समय के इस कुरूप का चित्रण किया है—

"सुखद सूचना यह है
प्रत्येक ठिगना आदमी
आलमशाह जादूगर की छड़ी स्पर्श से
एक मच्छर बनने की चाहत को पाल रहा है।
कम-से-कम कुछ समय तक ही सही
दूसरों का खून चूस लिया जा सकता है।"

कवि की सबसे बड़ी चिंता जाहिर होती है—"जादूगर पूरी तरह/हमारे बीच प्रवेश कर गया है।"

अरविंदाक्षन समय के सत्य का उद्घाटन करते हैं अत्यंत सीधे-सादे ढंग से। लेकिन उनकी सहज भाषा में गंभीर अर्थ लुक्कायित रहता है। 'अभिधा उत्तम काव्य है...।' आज समाज में बाह्याडम्बर, प्रदर्शनप्रियता, दिखावा, ढोंग, पाखंड आदि जोरों पर है। बाहरी चमक-दमक तो खूब है लेकिन अंदर से खोखली बन चुकी हमारी सामाजिक बनावट पर अरविंदाक्षन तीव्र प्रहार करते हैं। अपनी 'कूपमंडूक' शीर्षक कविता में—

"जब उसे मेंढ़क कहकर मैंने संबोधित किया
तो वह इतना बिगड़ गया
कहने लगा—
एक मामूली मेंढ़क
और कूपमंडूक में फर्क है
मैं तुम्हारा छुटका मेंढ़क नहीं
या खेतों का मोटा मेंढ़क भी नहीं
जो बारिश के मौसम में
अपना संगीत अलापता है।"

समय प्रतिकूल है। समय की प्रतिकूलता से कवि आहत है। अनुकूल समय को प्रतिकूल बनाया है कुछ स्वार्थी अयाचित लोगों ने। इस समय में अनास्था, अविश्वास आदि के भाव पनपने लगते हैं। बदहवास समय के बारे में 'रात और दिन' शीर्षक कविता में अरविंदाक्षन लिखते हैं—

"उनकी रची यह रात
भरा-पूरा सच है।
और दिन बस एक झूठा सच।
मैं भागने लगा था।
भागते समय मैंने फ़ैसला किया
मैं अपना नहीं सकूँगा

रात को यह नंगापन
या दिन का यह ढोंग।"

परिवर्तन संसार का नियम है। परिवर्तन स्वाभाविक है। परिवर्तन विकास का प्रतीक है। सवाल यह है कि परिवर्तन या विकास किसके लिए है? मनुष्य के लिए तो सारा आयोजन होना चाहिए। रोबोट के लिए विकास का क्या मतलब? कभी खेतों से मनुष्य बतियाता था। उसे दुलारता था। बदले में खेत खिला करते थे, गाते थे, फसलों से लहलहाते थे। अब 'वह समय नहीं रह गया है।' विकास के नाम पर खेतों को खेत नहीं रहने दिया गया। जमीन में तब्दील कर दिया गया है। उसे बेचा जा रहा है। शहरी संवेदनशून्यता का संक्रमण गाँवों में हो रहा है। कवि का अंतर्मन कराहता है—

"इस सड़क ने
हमारे खेत को बेजान कर दिया हैं।"

अरविंदाक्षन की एक कविता है 'बोधिवृक्ष'। यह बोधिवृक्ष ही था जिसने गौतम बुद्ध को दुःख के कारण बताये थे। जीवन के रहस्य का खुलासा किया था। आज के संदर्भ में बुद्धिजीवियों की भूमिका बोधिवृक्ष की तरह होनी चाहिए। लेकिन यह वर्ग कहने भर को है। इसे न जानकारी है और न जिज्ञासा। राष्ट्रोन्नति में जो भूमिका इस वर्ग की होनी चाहिए उसे कभी भी पूर्ण नहीं कर रहा है। बस, अपने तक ही सीमित है। तभी कवि ने लिखा है—

"हमारे समय के बोधिवृक्ष
न दुख का कारण जानते हैं
न वे सतर्क हैं
वे सिर्फ अपनी भूमिका जानते हैं।
वृक्ष बने रहना ही उनकी भूमिका है"

अरविंदाक्षन की कविताओं में साम्राज्यवाद का विरोध है। नव-औपनिवेशिक षड्यंत्रों का प्रतिरोध है। दिनोंदिन बढ़ती बेरोजगारी, बलात्कार और शोषण से पीड़ित दिग्भ्रमित युवा पीढ़ी पर व्यंग्य इसलिए है कि यह पीढ़ी नव-औपनिवेशिक षड्यंत्रों का शिकार बन रही है। फलस्वरूप, इस पीढ़ी में बौद्धिक बौनापन और कूपमंडूकता फैलने लगे। इससे साम्राज्यवाद को अपनी तानाशाही चलाने में आराम होता है। देश बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दरवाजे के सामने गिड़गिड़ाता है कि वे पधारें और अपना धन निवेश करें। कवि के शब्दों में—

"अतिथियों के चले जाने के बाद
इतिहास ने अपना नया अध्याय रचा
उनकी बीवी ने याद दिलाया
अतिथियों को बुलाओ

हमें अतिथियों की पूजा करनी है
इस बार इतिहास ने तमाम व्यापारियों को बुलाया।''

व्यापारी आते हैं। अच्छी हरकतें करते हैं। सबको खुश रखने का खूब प्रयास भी करते हैं। इतिहास उनकी सेवा में लगा रहता है। व्यापारी की चालाकी नई पीढ़ी नहीं समझ पाती है। अरविंदाक्षन लिखते हैं—

''इतिहास की बड़ी लड़की ने कहा
बापू, व्यापारी अतिथियों की जड़ें
मेरे कमरे की फर्श को फोड़कर
बढ़ती आती नज़र आ रही हैं
और बापू
वे जड़ें हैं बड़ी खूबसूरत और मजबूत।''

दरअसल, यह कविता गंभीर विमर्श की माँग करती है। आक्रोश, विद्रोह, प्रतिरोध, विरोध आदि युवा-पीढ़ी के आभूषण थे। आखिर ऐसा क्यों हो गया कि युवा-पीढ़ी ने उन्हें त्यागने को सोच रखा है। युवा पीढ़ी में व्याप्त इस बीमारी के मूल कारणों को अन्वेषित करना जरूरी है। समकालीन हिंदी कविता में ऐसी कविता दिखाई नहीं पड़ती। नव-औपनिवेशिक शक्ति की चालाकियों को उद्घाटित करती है 'अतिथि देवो भव' तो उसे और स्पष्ट करती है अरविंदाक्षन की दूसरी कविता 'अवतार और यथार्थ'। इस कविता में बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था के दुश्चक्रों की शिकार बनती युवतियों से सावधानी बरतने का आग्रह करते हुए कवि लिखता है—

''हमारे नन्हें कान्हाओं को मारने
अपने स्तनों पर विष लगाकर
कई पूतनाएँ आ रही हैं
सुनो तो सही
कंस की हँसी सुनाई दे रही है।''

कंस नव-उपनिवेशवाद है तो पूतना उसकी दासी है। इसी प्रकार 'रामायण' के संदर्भ में 'मारीच' के प्रसंग में भी अरविंदाक्षन ने एक वेहतरीन कविता लिखी है। मारीच प्रतीक है नव-औपनिवेशिक ताकतों का जो स्वयं अदृश्य है परंतु राम यानी आम आदमी को अपने माया-जाल के बंधन से बाँधे रखता है। माया मृग है। जरूरी है कि इस मारीच को पहचाना जाए—

''मैं श्रीराम न सही
मुझे सिर्फ यह दर्ज करना है

यह जो चकमा देने आया है
वह मारीच है
हमें अपनी सीता को बचाना है।''

अपनी एक अन्य कविता 'कंचन मृग' में अरविंदाक्षन उसी भावभूमि का विस्तार करते हैं—

''हे राम!
हमारे जंगलों में
असंख्य कंचन मृग हैं
न मैं उनके पीछे भाग सकता हूँ
न शर संधान कर सकता हूँ।''

आम आदमी की लाचारी और विवशता खुलकर सामने आती है। भूमंडलीकृत दुनिया में अनगिनत कंचन मृग खूँखार जानवर बनकर जंगलों में स्वच्छंद विचरण कर रहे हैं। ये हिंस्र पशु जब जिसे चाहते हैं मार डालते हैं। भयानक आतंक व दहशत भरा वातावरण उत्पन्न करते हैं। ये कभी सत्ता के स्वामी बने रहते हैं तो कभी पूँजी के। 'रामायण' में राम को चकमा देने वाला मारीच कोई एक था परंतु आज अनेक मारीच हैं। चकमा खाने वाला राम ही नहीं है, सभी हैं—

''वही आज हमें चकमा देने
हमारे जंगलों में/पानी में/शहरों में/
युवा हृदयों में
अपनी जादुई हरकत से काफी कुछ दिखाना चाहता है।''

अरविंदाक्षन की कविता आज के समय की विडंबनाओं और हत्या की संरचना को उघाड़ कर रखने में समर्थ है। शताब्दियों से हमारा इतिहास हत्या के रक्त से सना हुआ है। महाभारत के काल में एकलव्य की 'ऊँगली की कथा' हो या लीलावती की हत्या, सर्वत्र प्रयास यह रहा है कि विरोध का दमन हो, तीव्र दमन। लीलावती का खून क्यों हुआ? कठोर परिश्रम और जनता को संघबद्ध करके सूखे इलाके में जलधारा लाने के पश्चात् पानी के माफिया के हाथों उसकी हत्या कर दी गई। यह समय का यथार्थ है जिसे अरविंदाक्षन ने उकेरा है। उन्होंने मिथकों के सहारे परिवर्तन के चिन्हों को अन्वेषित किया है। 'जैसा था' से बढ़कर कवि 'जैसा होना चाहिए' को अधिक महत्त्व देता है। अधिकार के लिए उठी ऊँगली जब काट दी जाती है तो बात वहाँ समाप्त नहीं होती है बल्कि बात वहाँ से शुरू होती है। नया इतिहास विनिर्मित होने लगता है। एक भिन्न भाषा उत्पन्न होने लगती है। इस भाषा की ताकत इतनी जबर्दस्त होती है कि सिंहासन हिल उठता है, शासकों की नींद हराम हो जाती है—

"द्वापर में
जब एक काले मनुष्य की उँगली काट दी गई
तब व्यास की कथा ही नहीं बदल रही थी
इतिहास बदल रहा था।"

पहले भी उल्लेख किया गया है कि उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजारवादी व्यवस्था, पूँजीवादी शक्तियों ने हमारे अंतरंग मुहूर्तों को भी विनष्ट करना शुरू कर दिया है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के नाम पर अपने मधुरतम क्षणों को भी गिरफ्त में किया जा रहा है। ऐसा करना घोर अमानवीय है। कुकृत्य है। कवि के शब्दों में—

"कहीं भी
कभी भी कोई आ सकता है
शयन-कक्ष में
पति-पत्नी के बीच भी।"
खुशी की बात है कि पुत्र अपने पिता को लिखता है—
"मेरा समय
अर्थ खो रहा है

× × ×

मैं मुक्त होना चाहता हूँ
अपनी मिट्टी की आर्द्रता में
अपने देश को महसूस करना चाहता हूँ मैं।"

कवि राजेश जोशी के कविता-संग्रह 'दो पंक्तियों के बीच' में महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ हैं—

"इत्यादि हर जगह शामिल थे
पर उनके नाम कहीं भी
शामिल नहीं हो पाते थे।"

धनवान विशिष्ट वर्ग में आये तो धनहीन सामान्य या इत्यादि की कोटि में गिने जाने लगे। ऐसे उपेक्षितों के प्रति संवेदना से भरपूर बिंब प्रस्तुत करते हैं अरविंदाक्षन—

"मेरे इस विशाल देश का अंठानबे प्रतिशत
अगर मैं कहूँ
कविता में तिरस्कृत है
तो उस वक्त कुछ भी घटित नहीं होता है।"

'कविता में तिरस्कृत' शीर्षक कविता में कवि की दृढ़ आस्था है, अतः उद्घोषणा भी—

"कविता में न कोई तिरस्कृत है
और न कोई स्वीकृत
कविता बस एक उम्मीद है
एक बड़ी-सी उम्मीद
इस विशाल देश की।"

सच है कि उठी हुई तलवार या खून से सने चाकू को कविता म्यान या खोप में लौटा नहीं सकती है। रोक नहीं सकती मार-काट, आगजनी और हिंसा की वारदातों को। लेकिन कविता आँखें खोल सकती है। अन्याय का प्रतिरोध कर सकती है। संवेदना का स्वर प्रकट कर सकती है। इसलिए कवि की दृष्टि में इस विस्तृत भूखंड की बड़ी-सी उम्मीद है कविता। 'कविता का अंत' घोषित करने के जमाने में अरविंदाक्षन की उपर्युक्त काव्य-पंक्तियाँ आश्वस्त करती हैं। संभावनाओं के अनंत द्वार उन्मुक्त करती हैं। नव-उपनिवेशवादी समय के चक्रव्यूह से बाहर निकलने की सामर्थ्य जुटाती है।

अरविंदाक्षन के काव्य-संसार का एक अद्भुत वैशिष्ट्य है कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि। इस जीव-जगत् की छोटी-से-छोटी चीजों पर उनकी नज़र जाती है। छोटे-से-छोटे जीव जंतुओं की दुनिया में पहुँचकर तीव्र संवेदना से युक्त होकर उन्हें कविता के केंद्र में स्थापित करते हैं। गिलहरी, मधुमक्खी, चींटी, मकड़ी, चिरैया, कौआ, कुत्ता, बिल्ली की अंतरंग दुनिया बड़ी प्राणवंतता के साथ चित्रित हुई है। मसलन, निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"चींटियाँ भी गाती हैं
पंक्तिबद्ध होकर
अपने से भी तिगुना बोझ उठाकर जब वे
चलती हैं
वे गाने लगती हैं
गाते-गाते वे अपना बोझ हल्का करती हैं।"

माना कि यहाँ चींटियाँ प्रतीक बनकर आई हैं खेत में काम-करने वाले मजदूरों का, पर 'चींटियाँ भी गाती हैं' निहायत नया प्रयोग है। यह दरअसल अरविंदाक्षन का निजी वैशिष्ट्य है। महीन चीजों पर पैनी नजर के चलते उनकी अलग-सी जगह बनी रहेगी।

भारत के तमाम राज्यों में से केरल का प्राकृतिक सौंदर्य सर्वाधिक मनोहारी है। अरविंदाक्षन की कवि-दृष्टि में प्राकृतिक वैभव साकार हुआ है। कहा जा सकता है कि कवि की अधिकांश कविताओं में पर्यावरण चेतना मुखर हुई है। कटहल, इमली, जामुन आदि पेड़ों के साथ 'पेड़ जब बीमार हो जाता है', 'हर इलाके के पेड़ हमारे साथ भाग आते हैं', 'पेड़ इतिहास रचता है' भाव-बोध से संबलित कविताएँ हमारी चेतना को झकझोरने में समर्थ हैं। सूर्य, नदी,

मिट्टी, पानी, जंगल, ओस की बूँदें, वर्षा, धूप आदि के माध्यम से पर्यावरण विमर्श को नये आयाम प्राप्त हुए हैं। तमाम छोटे-बड़े जीव-जंतुओं के सूक्ष्म-पर्यवेक्षण करके पर्यावरण संतुलन ही नहीं उनके भीतर में मौजूद प्राणवत्ता का संधान करते हैं। उनकी कविताओं का पर्यावरणीय पाठ की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। 'नीम की पत्तियों का रोना', 'बारिश का संगीत बूँद के भीतर सोया रहता है', 'हम इन पेड़ों से बतियाकर ही स्कूल जाते थे', 'पहाड़ी गाँव से हमारा रिश्ता गहरा था', 'पक्षी का चहकना उनका रोना भी है', 'इमली के पेड़ को इमली बाबा कहते हैं' आदि काव्य-पंक्तियाँ महज पंक्तियाँ नहीं हैं, 'ग्लोबल वार्मिंग' के दुःसमय में गंभीर विमर्श की अपेक्षा करती हैं।

कहा जा चुका है कि सांस्कृतिक पराभव काल में अपसंस्कृति संक्रमित हो रही है। अरविंदाक्षन मिट्टी के गायक हैं। मिट्टी के साथ अपने प्रगाढ़ संबंध को जाहिर करते हैं 'मिट्टी' शीर्षक कविता में—

"सपनों में सदैव
मैं माँ की गोदी में
पड़ा रहता था
वह कहानियाँ सुनाती थी
मिट्टी की ढेर सारी कहानियाँ
उसे याद रहती थी।"

दरअसल, मिट्टी से मनुष्य का आजीवन संबंध बना रहता है। उसकी अस्मिता से मिट्टी जुड़ी रहती है।

अरविंदाक्षन की पर्यावरणीय सचेतनशीलता की तमाम कविताएँ हैं। बाबा नागार्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' में पूरे गाँव के लोग वटवृक्ष से बतियाते हैं, अपना सुख-दुख बाँटते हैं। इसी प्रकार 'इमली का पेड़' शीर्षक कविता में अरविंदाक्षन ने इमली के पेड़ को पितामह की भूमिका में अवतरित किया है। वह गाँव का दुःख जानता है। इमली बाबा का संकल्प है—

"मुझे रात भर जागना है
गाँव को जिंदा रखना है
डूबते हुए को बचाना है।"

गाँव को बचाने का आशय है पर्यावरण संतुलन कायम रखना। साथ ही, संवेदनाएँ जो छीज रही हैं, कराह रही हैं, छटपटा रही हैं, उन्हें जीवित रखना है। विषाक्त हो रहे पर्यावरण और मानसिक प्रदूषण का सामना करना है। इस संदर्भ में 'नदियों का पलायन' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं, उद्वेलित करती हैं इसलिए विचार योग्य भी हैं—

"इतिहास की गति जब-जब द्रुततर हुई
नदियाँ ओझल होती गई हैं।"

'पेरियार का पानी' की निम्न पंक्तियाँ हमें उद्वेलित करती हैं—

"पेरियार का पानी बिक रहा है।
— — — —
पेरियार हमारे लिए नदी नहीं
— — — —
माँ का पानी भी
बेचा जा सकता है!"

पानी किसी एक का नहीं, सबका होता है। लेकिन बाज़ार ने उस पर भी अपना एकाधिकार जाहिर कर दिया है। इस प्राकृतिक संपदा को भी खरीदना पड़ता है। 'अफ़सोस' कविता की पंक्तियाँ कवि की बेचैनी प्रकट करती हैं—

"पानी की बोतलें
मुझे दुःख ही दे रही हैं।"

पानी, पेड़-पौधे, जीव-जंतु केवल जड़ या चेतन वस्तु नहीं हैं। ये हमारे जीवन मूल्य से भी संपृक्त हैं।

कवि ए. अरविंदाक्षन बिना किसी नास्टेल्जिया के गाँव और शहर की विसंगति तथा वर्तमान और भविष्य का आकलन करते हैं। मनुष्य के बौनेपन से पीड़ित होते हैं। क्रूर समय की चालाकियों से यंत्रणादग्ध मानवता की तस्वीर खींचते हैं। मनुष्य और मनुष्य के बीच बढ़ती जा रही दूरी से आहत होते हैं—

"आदमी और आदमी के बीच
कई आदमी गायब हैं
एक अनचाहा फ़ासला है
इसलिए
आदमी और आदमी के बीच
कोई ठोस बात होती नहीं
वे देखते भर हैं।"

हिंदी आलोचना की विडंबना है कि इसने अरविंदाक्षन की कविता को गंभीरता से ग्रहण नहीं किया है जबकि उनकी कविता में सामर्थ्य है। अब उम्मीद की जानी चाहिए कि अरविंदाक्षन के आठ संकलनों में प्रकाशित कविताओं का संपूर्णता के साथ आकलन होगा।

खंड-खंड में विभाजित साहित्य के जहाज़ को बचाने की सख्त जरूरत आ पड़ी है। कवि की घोषणा है—

"मज़हब जहाज़ को बचा नहीं सकता।"

मानवता सर्वोपरि है। अरविंदाक्षन की कविताओं की दृढ़ आस्था है इस मानवता पर। मानवीय मूल्यों को सर्वाधिक प्राथमिकता देती हैं अरविंदाक्षन की कविताएँ। उनकी कविताएँ आत्मानुभव की कविताएँ हैं। उनकी कविताओं में से आस्था, विश्वास और संकल्प का स्वर उभरता है—

"हमें अपने साथियों को बचाना है डूबते जहाज़ से।
हमें अस्सी साथियों को निकालना है।
हमें अस्सी इनसानों को निकालना है।"

□□□

हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य और जितेन्द्र श्रीवास्तव का कवि-कर्म

"वे रचती हैं!
वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुष में नहीं होता
वे होती हैं तभी पुरुष
पुरुष होते हैं।" —अनभै कथा, पृ. 35

"मन में गहरी बेचैनी है
इधर बदल गये हैं हमारे शहर
वहाँ अदृश्य हो रहे हैं आत्मा के वृक्ष
अब कोई आँधी नहीं आती
जो उड़ा दे भ्रम की चादर।" —असुंदर सुंदर, पृ. 18-19

"आदमी को नकारकर
औरतों को लुटवाकर
गोलियाँ वर्षा कर
नहीं बचाया जा सकता देश
देश को बचाने के लिए प्यार चाहिए" —इन दिनों हालचाल, पृ. 59

"तुम्हारा कहीं भी होना
मेरे साथ होना है
मेरा कहीं भी होना
तुम्हारे साथ होना है।
तुम कहीं भी जाओ
कितनी भी बचकर जाओ
चुटकी भर चला ही जाऊँगा तुम्हारे साथ।"—बिल्कुल तुम्हारी तरह, पृ. 14

"मित्रों, संसार में विज्ञान ही विज्ञान है
पर जीवन का विज्ञान
विज्ञान की प्रचलित और प्रचारित अवधारणाओं के पार जाता है
जहाँ अनुभव धूप में अपनी देह सुखाता है।"

—कायांतरण, पृ. 119

(1)

समकालीन कविता की युवा पीढ़ी का अति परिचित और चर्चित नाम है जितेन्द्र श्रीवास्तव। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जितेन्द्र की कविताएँ प्रकाशित होती आ रही हैं। सिर्फ प्रकाशित होकर अलक्षित नहीं रह जाती हैं बल्कि पढ़ी जाती हैं, चर्चित होती हैं और प्रशंसित भी। जितेन्द्र की पहली कविता पुस्तिका 'इन दिनों हालचाल' 1999 में प्रकाशित हुई थी। दिनेश श्रीनेत ने अपने चयन और संपादन से 'इन दिनों हालचाल' को 2011 में पुस्तकाकार रूप प्रदान किया है। दो दशकों से भी अधिक अवधि से जितेंद्र काव्य-सृजनरत हैं। अब तक उनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—अनभै कथा (2003), असुंदर सुंदर (2008), इन दिनों हालचाल (2011), बिल्कुल तुम्हारी तरह (2011) और कायांतरण (2012)। इन पाँचों संग्रहों की कविताओं ने हिन्दी के पाठकों, विद्वानों, आलोचकों और सहृदयों का ध्यानाकर्षण किया है। हिन्दी अकादमी दिल्ली का 'कृति सम्मान', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का 'रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार', 'भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का 'विजयदेव नारायण साही पुरस्कार', भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता का 'युवा पुरस्कार', 'डॉ. राम विलास शर्मा आलोचना सम्मान', 'परंपरा ऋतुराज सम्मान', 'देवीशंकर अवस्थी पुरस्कार' आदि से सम्मानित कवि जितेन्द्र एक आलोचक भी हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी पुरस्कृत हो चुके हैं जो उपर्युक्त सूची से प्रमाणित होता है। परन्तु यहाँ केवल जितेन्द्र श्रीवास्तव के कवि-कर्म के कुछ बिन्दुओं पर चर्चा की जा रही है। लेकिन, यह बताना जरूरी है कि जितेन्द्र ने गाँव, शहर, कस्बा, महानगर में रहकर वहाँ के जन-जीवन से जुड़कर जो अनुभव प्राप्त किया है उसे अपने अंदर पकने दिया, मँजने दिया तत्पश्चात् कविता लिखी है। जाहिर है कि जितेन्द्र का अनुभव—संसार व्यापक है। अत: उनकी रचना की दुनिया भी वैविध्यमयी है। जीवन के विविध संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों, उसकी जटिलताओं और विडंबनाओं, सुख और दु:ख की स्थितियों, अँधेरे और उजले चित्रों आदि को रचनाकार ने कविता का विषय बनाया है। फलस्वरूप, जितेन्द्र की कविताएँ वायवीय नहीं लगती हैं बल्कि विश्वसनीय प्रतीत होती हैं। पाठक को लगता है कि उसके अनुभवों को कवि ने शब्दबद्ध किया है। वह कविता से जुड़ता चला जाता है। तादात्म्य स्थापित होता है। इस तादात्म्यता में जितेन्द्र के निष्कपट और सहज भाव-रूप की बड़ी भूमिका होती है। अपनी पीढ़ी के रचनाकारों की तुलना में जितेन्द्र की विशिष्ट पहचान इसलिए है कि आप शब्दाडम्बरों से अपने पाठकों को गुमराह

करने में विश्वास नहीं करते। कविता की संवेदना को संप्रेषित करने के लिए जटिल शब्दावली का सहारा नहीं लेते। जल्द से जल्द पाठकों तक पहुँचते हैं। ऊपर से देखने पर ये शब्द सीधे और सहज प्रतीत होते हैं पर चिंतन-मनन के बाद इनमें निहित अर्थ-गांभीर्य प्रकट होता है। यूँ कहा जा सकता है कि साधारण का असाधारण भावबोध से युक्त होकर इनकी कविताओं ने समकालीन कविता में अलग पहचान बनाई है। जितेन्द्र की कविताओं में निहित शक्ति और सामर्थ्य ने उन्हें अपनी जगह दिलाई है जो कवि के जीवनानुभवों से उत्पन्न हैं।

(2)

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ 1991 में महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। सराही भी जाती हैं। यह समय भारतीय संदर्भ में काफी महत्त्व रखता है। भारत ही क्यों पूरी दुनिया इसी दौर में बड़े उथल-पुथल से गुजरती है। यह उथल-पुथल आज भी जारी है। सोवियत संघ का विघटन हुआ। विश्व पूँजीवाद ने अपना विजय ध्वज फहराना शुरू कर दिया। वर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ. का वर्चस्व सामने आया। आर्थिक विकास का ढोंग रचा गया। भूमण्डलीकरण के नाम पर मुक्त बाज़ार व्यवस्था प्रचलित हो गई। इससे उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिला। विकास के नाम पर मॉल और 'बिग बाज़ार' खड़े किये गये। कंक्रीट का जंगल फलने-फूलने लगा। जल, जंगल और ज़मीन पर कब्ज़ा करने लगीं बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ। राष्ट्रीयता और संप्रभुता पर भी खतरे मँडराने लगे। पूँजी अति शक्तिशाली हो गई और आर्थिक ताकतें अधिक ताकतवर हो गईं। आम आदमी का संकट गहराने लगा। विकसित राष्ट्रों ने भारतीय राजनीति को भी परोक्ष ढंग से नियंत्रित करना शुरू कर दिया। राजनीति ने सदा ही भारतीय जनता को लूटा है, छला है और शोषित किया है। भूमण्डलीकरण की आँधी के बाद दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। एक ओर भूमण्डलीकृत हिस्सा तो दूसरी ओर इस प्रक्रिया से बाहर रह गया हिस्सा। पहले हिस्से में सट्टेबाजियाँ, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण आदि को फलने-फूलने दिया गया ताकि कॉर्पोरेट पूँजी का उत्तरोत्तर विकास हो। दूसरी ओर, क्रयशक्ति के अभाव में रहने वाली बहुसंख्यक आम जनता को पूँजी ने निरर्थक साबित किया है। 'वैश्विक गाँव' में केवल वे शामिल हैं जिनमें क्रयशक्ति मौजूद है। पूँजी ने मीडिया को अपना दास बना लिया तो मीडिया दास ने भूमण्डलीकरण और पूँजी को महिमा मंडित करने का बीड़ा उठा लिया।

भूमण्डलीकरण के दौर में बाज़ार का महत्त्व बढ़ता गया। पूरी दुनिया को मण्डी में तब्दील करने का सपना लेकर भूमण्डलीकरण सामने आया। यानी भूमण्डलीकृत देश भूमण्डीकृत बन गये। मुक्त बाज़ार, मण्डी तंत्र आदि का एक सीधा अर्थ होता है 'अमेरीकी दादागिरी'। हथियारों की खरीद-फरोख्त हो अथवा देशी वस्तुओं की पेटेन्ट व्यवस्था हो, सीमा-संघर्ष हो या क्षेत्रीय युद्ध, गृह-युद्ध हो या कोई परियोजना सर्वत्र अमेरीकी वर्चस्व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बहाने सामने आने लगा।

भूमण्डलीकरण के नाम पर अपने उदात्त सांस्कृतिक वैविध्य को समाप्त करने की भी साजिश रची जाने लगी। एक ही तरह के खान-पान, वेश-भूषा, भाषा, जीवन-पद्धति आदि को प्रोमोट करते हुए भूमण्डलीकरण ने 'भारतीयता' को उखाड़ फेंकने का भी षड्यंत्र रचा है। फलस्वरूप, हमारी जीवन-शैली गहरे रूप से प्रभावित हो रही है। व्यर्थ ही चमक-दमक के सामने हमारे पुराने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बाधित हो रहे हैं। एक नई संस्कृति पनप रही है उपभोक्ता संस्कृति, इसमें सब कुछ खरीदा-बेचा जा सकता है। मनुष्य भी एक प्रॉडक्ट मात्र है। मानवता खतरे में है। मानवता का कोई बाज़ार मूल्य नहीं होता है तो उपभोक्ता संस्कृति को उसकी रक्षा की कोई चिंता नहीं है। भूमण्डलीकरण सर्वग्रासी दैत्याकार रूप धारण कर चुका है। ऐसी परिस्थितियों में युवा-कवि जितेन्द्र का कविता के क्षेत्र में आगमन होता है। स्वाभाविक है कि अपने समय की चिंता और समय की विकृतियों को जितेन्द्र कहाँ तक उकेरते हैं, उसकी परख होनी चाहिए। यह भी परखा जाना चाहिए कि यह युवा कवि भूमण्डलीकरण के सच को किस रूप में ग्रहण करता है? क्या उसका विरोध करता है या समर्थन? यदि विरोध है तो किन औज़ारों से किस रूप में संघर्ष करता है? अपने समय के अंतर्द्वन्द्व और दरारों को कितनी मजबूती के साथ पकड़ता है? साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि उसकी रचनाएँ आने वाले समय के लिए कितना उपयोगी साबित हो सकती हैं।

पूँजी की विकरालता सर्वत्र फलीभूत हो रही है। राष्ट्रीय सरहदों को पारकर दुनिया के कोने-कोने में पूँजी के दुष्प्रभाव दिखाई पड़ रहे हैं। पूँजी अपना खेल खेलने के लिए तमाम सीमाओं, मर्यादाओं को तोड़ रही है। भूमण्डलीकरण के पैरोकारों की दृष्टि में राष्ट्रीयता, अपनी भाषा-संस्कृति आदि विकास के बाधक हैं। पूँजी की तानाशाही पर अपनी चिंता ज़ाहिर करते हुए जितेन्द्र लिखते हैं—

''पूँजी की रेल-पेल
धक्का-मुक्की में पलकर
जवान होता है जब लड़का

वह आलू को आलू
और टमाटर को टमाटर की तरह
चखना चाहता है।''

—अनभै कथा, पृ. 94

दरअसल, यहाँ जवान हो रही पीढ़ी का विद्रोह है जो अपने समय की सच्चाई को जानना-समझना चाहती है। भटकना या भरमाना नहीं चाहती। पूँजी की चालाकियों के सामने अपने को तिरोहित भी नहीं करना चाहती है। पूँजी अपने मुनाफे के लिए जो लाभ का जाल बुनती है उसका शिकार बनना स्वीकार नहीं करती है। जितेन्द्र का कवि पूँजी के छल-कपट से परिचित है। इसलिए वह उसकी कपट-लीला को अनावृत करता है। पूँजी के खेल से चीजों का प्राकृतिक गुण-धर्म विनष्ट हो रहा है। इससे भी चिंता की बात है कि

जीवन की स्वाभाविकता समाप्त होती जा रही है। गाँवों में 'गाँव' बचा नहीं रहा। न वहाँ चहल-पहल बची है और न बच्चों की किलकारियाँ। पूँजीवादी लोलुप सत्ता ने ऐसा चक्रव्यूह रचा है कि अर्थ के आकर्षण के चलते 'कच्ची उम्र के छोकरे' नगरों-महानगरों में बँध गये हैं। मासूमियत, सहजता, स्वाभाविकता को बचाए रखने की बड़ी जिद है कवि जितेन्द्र की। साथ ही, इनके हंताओं की जमकर खबर लेना भी नहीं भूलते हैं वे। भूमण्डलीकरण, बाज़ार, पूँजी, उदारीकरण, निजीकरण की साँठ-गाँठ से कवि परिचित है। कैसा प्रतिकूल समय आ पहुँचा—

''देखते ही देखते
गाँव से छोकरे गए
मन से हुलास
इमली से खटास गई
आम से मिठास
महुए से रस गया
आँखों से नींद।''

—यथोपरि, पृ. 110

आज के दौर में बाज़ार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक रूप ग्रहण कर लिया है। 'ग्लोबल मार्केट' की वस्तुएँ सर्वत्र पहुँच रही हैं। वहाँ भी जा पहुँची हैं जहाँ बिजली, सड़क, शिक्षा से भी लोग वंचित हैं। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था में केवल एक ही मूल्य होता है, वस्तु का मूल्य। वस्तु की कीमत सर्वोपरि हो जाती है। यह अलग बात है कि बाज़ारवाद ने मनुष्य को, मानवीय संवेदनाओं तक को वस्तु के मोल पर बेचना चाहा है। ऐसा भी देखा जाता है कि मनुष्य किसी वस्तु की तुलना में ठिगना और बौना साबित हो जाता है। बाज़ार के सामने मनुष्य अपने घुटने टेक देता है। संचालन का सूत्र बाज़ार और पूँजी के हाथों सौंप देता है। नियंत्रण की डोर उन्हें पकड़ा देता है। उससे दो-चार नहीं हो पाता। यह अत्यंत चिंता का विषय है। बाज़ारवादी अर्थ-व्यवस्था में बाज़ार तो चाहेगा कि विचार का अंत हो जाये। परंतु कवि प्राण ऐसी स्थिति में व्यथित हो उठता है। दुनिया चाहे रचनाकार की हो या कलाकार की वह बाज़ार से मुक्त कहाँ हो पाती है? वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह के दाने निश्चय कर लेते हैं 'अब हम मण्डी नहीं जायेंगे'। यह है कवि का प्रतिरोध और विद्रोह। केदारजी स्पष्ट कहते हैं—'यह बाज़ारों का समय है।' बिल्कुल बदला हुआ समय है। जितेन्द्र इस बदलते समय के बदलते मिजाज को शब्द-चित्र में कैद करते हैं अपनी अपेक्षातया लम्बी कविता 'रूमाल की तरह' में। 1998 से 2005 तक आते-आते कितना कुछ बदल जाता है कितनी तेजी के साथ—

''रिश्तों के बीच आ गया है पैसा
जैसे खाने में दाँतों के नीचे कोई कंकड़''

—असुंदर सुंदर, पृ. 121

इसी कविता में ही कवि भूमण्डलीकृत समय और समाज की दशा-दिशा से बेचैन दिखाई पड़ता है—

"पर यह समय शापित है
इन दिनों
बाज़ार के इतने चेहरे दिखते हैं एक साथ
कि मिथकों में साँस ले रहे सारे मायावी चरित्र
मिलकर भी नहीं बना सकते उतने चेहरे।"

—यथोपरि

यहाँ भूमण्डलीकरण और बाज़ारवादी व्यवस्था पर कवि की चिंता जाहिर होती है। बाज़ारीकरण के दौर में कुरुचि और विकृति को सुंदर घोषित कर उसका विक्रय हो रहा है। वास्तव में यहाँ जो बाज़ार मौजूद है वह केवल क्रेता और विक्रेता का स्थान भर नहीं है। यह एक अखाड़ा भी है। इस अखाड़े में पश्चिम का पहलवान, दैत्य पटकता रहता है। हम उसके जाल में फँसते चले जाते हैं। मानवीय संबंध अत्यन्त प्रभावित होता है। इस बाज़ार में सबकुछ बिकता है। सुख-दुःख, प्रेम-हिंसा, क्रूरता आदि भी बेचकर मार्केट से लाभ हासिल किया जा रहा है। इसने हमारा सौन्दर्यबोध भी बदल दिया है। हमारी स्वाभाविकता तक को छीन लिया है। कवि उसके 'चेहरे' की कारगुजारियों का उन्मीलन करता है। अपने समय और समाज में व्याप्त भूमण्डलीकरण की कुरीतियों को उघाड़कर रख देता है। 'शापित समय' लील लेना चाहता है हमारी इच्छाओं और अभीप्साओं को। वह अपने उदर में समा लेना चाहता है हमारे अपनेपन और आत्मीय संबंधों को। हस्तगत कर लेना चाहता है, वह हमारे निजी क्षणों को भी। जितेन्द्र के शब्दों में—

"उसके मुँह से चू रही है लार
वह बढ़ रहा है
हमारी इच्छाओं की डोर थामे
अब वह लपकना चाहेगा हमारी आत्माओं को
जिनका इस्तेमाल करना चाहता है वह
रूमाल की तरह।"

—यथोपरि, पृ. 122

मनुष्य बेतहाशा अंधी दौड़ में शामिल हो रहा है। मनुष्य व्यक्ति में तब्दील हो रहा है और समाज भीड़ में। संबंधों की उष्मा अनजान-बेपहचान में बदल रही है। पूँजी को सर्वोपरि मान लिया जाता है। पैसा बोलता है। भूमण्डलीकरण के दौर में जीवन के सारे अर्थ बदल चुके हैं। मुहावरे बदल रहे हैं। आस्था और विश्वास, प्रेम और सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों की होली जलाई जा रही है—

"अब कस्बों में बहुत दिनों तक
चल नहीं पाता काम

विश्वास और भरोसे पर
अब वहाँ अपना अर्थ बदल रहे हैं मुहावरे
समा रहे हैं तेज़ी से बाज़ार के पेट में"

—यथोपरि, पृ. 67

नब्बे के दशक में उन्मुक्त पूँजीवाद एवं उदारीकरण ने उपभोक्ता संस्कृति को भरपूर खाद दी। हम सभी आज उपभोक्ता बनकर रह गये हैं। उपभोक्तावादी सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण, बुर्जुआ संस्कृति की पराकाष्ठा के साथ प्रारम्भ हुआ। जीवन के ऐशो-आराम की सारी चीज़ों और भौतिक सुखों को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया। उपभोक्तावाद का पालन-पोषण मीडिया, विज्ञापन के जरिए होने लगा। आज के समाज में विज्ञापन संस्कृति एक 'अति अनुकरणीय' (हाईपर सिमुलेटेड) संस्कृति है जो किसी भी समूह के नियंत्रण से परे है। खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ की हिमायत करती है यह उपभोक्तावादी संस्कृति। मर्यादा और सामाजिक विधि-निषेध की परवाह भला इसे कहाँ है? उपभोक्ता संस्कृति एक असाध्य महामारी के रूप में फैलती जा रही है। जीवन मूल्यों को धत्ता बताते हुए यह खूब फल-फूल रही है। बाज़ार निरंतर अपने नए उपनिवेश बनाने की फिराक में रहता है। यह सब पर अपना शिकंजा कसता जा रहा है। कमलनयन काबरा लिखते हैं—"भारत का धनी-मानी, शहरी तबका पूरी तरह उपभोक्तावाद की चपेट में है और पश्चिम के उपभोग स्तर तथा जीवन प्रणाली की हू-ब-हू नकल करना उनके लिए उपलब्धि के नए मानदंड बन गए हैं।" (काबरा, कमल नयन—भूमंडलीकरण के भँवर में भारत, पृ. 114) आज यह निम्न वर्ग में फैलने लगी है। उपभोक्तावादी मानसिकता तेजी से विकसित हो रही है। कमलनयन काबरा इसका पूरा प्रसार शहरी तबके तक सीमित मानते हैं, परन्तु कवि जितेंद्र इसकी व्याप्ति निम्नवर्ग तक के लोगों में देखते हैं। उपभोक्ता संस्कृति द्वारा फैलाई जा रही अपसंस्कृति का 'रमिया' के माध्यम से विरोध करते हैं। विज्ञापन के मायाजाल में फँसी आम जनता की स्थिति से रू-ब-रू कराते हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा पश्चिमी देशों की सौंदर्य सामग्री के दिन दूना रात चौगुना बाज़ार की कपट-लीला का पर्दाफाश करते हैं—

"रमिया टी.वी. पर अधनंगी लड़कियों को देखकर
कोसती है शहर की संस्कृति को
समझती है लड़कियाँ खुद नंगी हो गई हैं
शहर को जहर मानती है रमिया
रमिया पर्दे पर जो देखती है
उसे ही सच मान लेती है
जिंदगी में आँच सहकर भी
पर्दे के पीछे नहीं जाती रमिया।"

—इन दिनों हालचाल, पृ. 46-47

भूमण्डलीकरण आज का सच है। लेकिन, सवाल यह है कि क्या हम भूमण्डलीकरण के भँवर में निःशब्द फँसते जायें? यह चुपके से हमारा सबकुछ हमसे छीन ले और हम चुप्पी साधे रहें? क्या हम जुबान तक न खोलें? यह मानकर बैठ जाएँ कि निहत्था होकर दैत्य से लड़ा नहीं जा सकता? कवि का प्रतिरोध है। वह निहत्था भी नहीं है। वह भूमण्डलीकरण, उपभोक्ता संस्कृति की गलत नीतियों से जूझना चाहता है। उसके पास अपनी भाषा, संस्कृति, अपने लोक आदि की विरासत है। और भी है अपने प्रेम पर सघन आस्था। इन्हीं औजारों के सहारे वह संघर्षरत होना चाहता है जिन्हें भूमण्डलीकरण उससे छीन लेने की तमाम साजिशें रचता आ रहा है। कवि कहता है—

"फिर भी हम
अपनी भाषा में चिल्लाएँगे
दर्द के विरुद्ध
विद्रोह के स्वर में हमारे टूटे-फूटे शब्द
तुम्हारी संस्कृति से टकराएँगे।"

—यथोपरि, पृ. 31

भूमण्डलीकरण के संदर्भ में जितेन्द्र की कविताओं का विश्लेषण हो और उनकी लम्बी कविता 'तेरह वर्ष बाद एक दिन जे.ए.यू. में फिर' की चर्चा न हो तो बात पूरी नहीं होगी, 'पाखी' के अगस्त, 2011 अंक में यह कविता पहली बार प्रकाशित हुई थी। बाद में जितेन्द्र के पाँचवें कविता-संग्रह 'कायांतरण' में इसे संकलित किया गया है। एक उम्दा कविता है यह। सहजता के साथ जो कुछ भी रचा गया है उसके संदर्भ और परिप्रेक्ष्य उतने सहज प्रतीत नहीं होते हैं। दरअसल, यही जितेंद्र की सबसे बड़ी खूबी है कि साधारण को असाधारण बना देते हैं। मीडिया विशेषज्ञ दिनेश श्रीनेत लिखते भी हैं—"जितेन्द्र अपनी कविता में वह संभव करते हैं, जिनके बारे में बहुत से कवि सिर्फ सोचते रह जाते हैं।" (यथोपरि, फ्लैप से) कवि का नजरिया जे.एन.यू. में विकसित होता है। गोरखपुर में उसका बीजवपन हो चुका था।

जे.एन.यू. सिर्फ एक विश्वविद्यालय नहीं है। यह तमाम बुद्धिजीवियों, चिंतकों, साहित्यकारों, चित्रकारों आदि के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। इसका अपना वैभव है, ऐतिह्य है और परंपरा भी। कवि जितेन्द्र का इस संस्थान के साथ लम्बा अनुभव रहा है। उनकी स्मृतियाँ हैं और है संलग्नता। यह कविता जे.एन.यू. केंद्रित जरूर है परन्तु जे.एन.यू. के परिसर तक सीमित नहीं है। जे.एन.यू. बस एक नाम है। किसी भी विश्वविद्यालय के लिए इसकी व्याप्ति हो सकती है। इसलिए इस कविता का फलक बड़ा है। इसका व्यापक संदर्भ है। इसके विविध परिप्रेक्ष्य मौजूद हैं।

आज शिक्षण-संस्थाएँ अपनी गरिमा खोती जा रही हैं। उनका मान या स्तर अधोगामी हो रहा है। अंक खूब प्रदान किए जा रहे हैं परन्तु गुणवत्ता में कमी आ रही है। इस कविता

में यह चिंता भी मौजूद है। दरअसल, कवि इस स्थिति से आहत होता है और अपनी पीड़ा को बड़ी शिद्दत के साथ पेश करता है।

तेरह वर्ष पश्चात् जे.एन.यू. में पहुँचकर कवि वहाँ की प्रकृति, मिट्टी से निकलने वाली सोंधी गंध और उन्मुक्त नृत्यरत मोर की स्मृति में डूब जाता है। अतीत की यह स्मृति सुखद भी, मनोरम भी। वर्तमान वैसा नहीं है। यहाँ केवल स्मृति नहीं है। स्मृति ही कविता नहीं बनती। कविता के प्रारंभ में ही इस स्मृति से कवि की पर्यावरण चिंता प्रकट होती है—

"प्रकृति ही प्रकृति थी चारों ओर
बारिश में उठती थी
मिट्टी से सोंधी गंध
नृत्य करते थे मोर उन्मुक्त।"

—कायांतरण, पृ. 102-103

'मोर उन्मुक्त' के माध्यम से कवि अपने विश्वविद्यालय के उन्मुक्त जीवन की ओर भी इशारा कर रहा है। यहाँ न संकीर्णता थी, न भेदभाव की दीवार खड़ी थी और न ही किसी प्रकार का कोई बंधन था। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस संदर्भ में कहा था—"व्हेर दी माइंड इज़ विदाउट फियर एण्ड द हेड हाई।" ऐसी स्थिति में जे.एन.यू. में होने का आशय था 'सपनों के नगर में होना।' प्रसंगतया उल्लेख किया जा सकता है कि इस लम्बी कविता के प्रारम्भ, मध्य और अंत में सपनों का जिक्र है। इससे कविता की क्रमबद्धता और तारतम्यता बनी रहती है। क्रम टूटता नहीं। इस कविता में भी क्रमबद्धता का कलात्मक निर्वहन है। पंजाबी कवि पाश ने कहा था—"सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।" सपना महज कल्पना नहीं होता है। यह जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करने वाला साधन भी होता है। पूरे देश के चुनिंदे नौजवान छात्रों के तमाम सपने विश्वविद्यालय के प्रांगण में पलते-बढ़ते हैं। इन सपनों के संबंध व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं होते, राष्ट्र तक भी नहीं। ये सपने पूरे वैश्विक परिप्रेक्ष्य में संदर्भित होते हैं। युवा-वर्ग के उन तमाम सपनों की ओर भी कविता संकेत करती है। इसलिए कवि की दृष्टि में जे.एन.यू. सपनों का पर्याय था। विचार चाहे वामपंथी हो या दक्षिणपंथी। शर्त बस इतनी कि वह—

"अग्रगामी बनाने वाले
सपने पैदा करने वाले
और उनको परिणति तक पहुँचाने वाले हों।"

—यथोपरि, पृ. 105

सपनों को सार्थक बनाने वाले किसी भी विचार का सम्मान था कवि के जे.एन.यू. प्रवास काल में। ऐसा होना स्वस्थ वातावरण का प्रतीक था। कवि ने स्वीकार भी किया है—'मैंने पाई थी सपने देखने की तमीज़।'

कविता का काल है 1994 अर्थात् बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक। यह व्यापक परिवर्तन का दौर था। 1990 को एक तरह का प्रस्थान बिंदु माना जा सकता है। इस दौरान

कविता में परिवर्तन दृश्यमान होते हैं। हिन्दी कविता भी तमाम उथल-पुथल से गुजरती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिप्रेक्ष्य तेजी के साथ बदलने लगते हैं।

भूमण्डलीकरण की आँधी ने मानव-मूल्यों को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। साम्प्रदायिक ताकत नये सिरे से सिर उठाने लगी। मंदिर-मस्जिद का विवाद गहराने लगा। नरसंहार हुआ। आर्थिक साम्राज्यवाद अपना वर्चस्व कायम करने लगा। इस पृष्ठभूमि में आलोच्य कविता रचित है। खुशी की बात है कि जितेन्द्र की इस कविता में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ, परिघटनाएँ चिंता बनकर उभरती हैं। इसमें विशेष कालखंड का चित्रण हुआ है। पिछली शताब्दी के अंतिम दोनों दशक कविता में झाँकते नज़र आते हैं। वास्तव में जिस कविता में कालखंड को अनदेखा किया गया हो, वह कविता टिकाऊ नहीं होती। देश-दुनिया की समस्याओं से जे.एन.यू. पीड़ित था। बुद्धिजीवी वर्ग चिंतित था। अतः कवि ने भी अपनी चिंता जाहिर की है, प्रतिबद्धता दिखाई है और परिघटनाओं के दुष्परिणामों की खबर ली है। मसलन—

"उस टूटन का दुःख घुला हुआ था।" —**यथोपरि, पृ. 103**

"भारत लुढ़कने लगा था
मुक्त बाज़ार की खाई की ओर।" —**यथोपरि, पृ. 103**

इस संदर्भ में कवि ने 'अयोध्या कांड का अँधेरा' और 'मण्डल कमीशन की गूँज' का भी उल्लेख किया है। साथ ही, नेपाल का बदलता परिदृश्य है। पेरु की तस्वीर भी। चेग्वेरा की पुत्री के आगमन के बिंब हों या फिर 'कौन बनेगा छत्रपति' का पूरी कविता में कवि ने बहुत ही कम शब्दों में बहुत कुछ कहने की कला हासिल की है। यह है कवि की सामर्थ्य। दृष्टव्य है—

"जब चारों तरफ होता है श्याम रंग
तब भी कहीं-कहीं चमकता है सफेद बिजली की तरह।"

—**यथोपरि, पृ. 104**

परिवर्तन अवश्यंभावी है। उस परिवर्तन का स्थान इतिहास में होता है जो मनुष्य के हित के लिए हो। सामाजिक प्रगति का सूचक हो। भूमण्डलीकरण के दौर में सब कुछ बदल रहा था। जे.एन.यू. का भी बदलना स्वाभाविक था। परन्तु वैचारिक सघनता के चलते पूँजीवादी शक्तियों को आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं किया जे.एन.यू. ने। उसका विरोध किया, प्रतिरोध किया। इसमें उसे विजय मिली या पराजय, महत्त्व इसका नहीं था। इस बात का अधिक महत्त्व है कि उनका विरोध किया गया। श्रीकांत वर्मा ने जो कभी कहा था 'मगध में विचारों की कमी है', कम-से-कम तेरह वर्ष-पूर्व जे.एन.यू. की वैसी स्थिति न थी। यह हमें आश्वस्त करती है।

कविता के मध्य भाग में जे.एन.यू. कल्चर की खूबियों की चर्चा है। काश, ये खूबियाँ अन्य शिक्षण संस्थानों की होतीं... 'सिर्फ नौकरी पाने की पाठशाला न था जे.एन.यू.', दूसरे को तवज्जो देना, अन्य के महत्त्व को स्वीकारना, शिक्षकों का छात्रों के प्रति स्नेह आदि स्वस्थ वातावरण के सूचक हैं। ऐसे वातावरण में ही सुनहरे सपने देखे जा सकते थे। तभी तो इमरान, रजी, अहमद, इकबाल जैसे मित्रों की स्मृति बार-बार आती है। यहाँ भी साम्प्रदायिक वैमनस्य की विष ज्वाला को पराजित करती है कवि की मित्रता। साम्प्रदायिक सौहार्द की कामना बलवती दिखती है।

उपभोक्तावादी सभ्यता और अवसरवाद के दौर में युवा नेता समझौतावाद की ओर उन्मुख हो रहे हैं। जितेन्द्र इस स्थिति में चंद्रशेखर सरीखे छात्र-युवा नेताओं का स्मरण करत हैं। ऐसे नेताओं का आज न तो ओज बचा रहा और न तेज। तभी वे लिखते हैं—

"यह हमारे समय की विडम्बना है
कि हमारे बीच तेजी से कम हो रहे हैं
चंद्रशेखर जैसे ओजस्वी, तेजस्वी और निष्कवच लोग।"

—**यथोपरि, पृ. 108**

सूचनाओं का आदान-प्रदान भर हो जाए तो छात्र का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है। उन्हें 'इन्वाल्व' होना पड़ता है। साहित्यिक आयोजनों में शामिल होना, सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन करना आदि उन्हें बहुत कुछ सिखाते हैं। कवि ने परोक्ष ढंग से यह स्वीकार किया है कि कविता की बात उसकी परंपरा से जुड़कर समझी जाती है, उससे कटकर नहीं।

इस कविता में अतीत साकार हो उठा है वर्तमान में। 'झेलम लॉन' में रातभर अध्यक्षीय उम्मीदवारों के गर्मागर्म भाषण, उनकी बहसें-मुबाहिसें, पक्ष-प्रतिपक्ष के विचार आदि जीवित हो उठते हैं—'अभी वहाँ पुरानी बहसों की आँच बाकी थी।'

उक्त कविता में जितेन्द्र का संवेदना-जगत् जीवन मूल्यों से सम्बन्धित है। टूटते जीवन मूल्यों के बाधक तत्वों को कवि ने पहचाना है, उनसे सावधान किया है। एक वैशिष्ट्य और है इस कविता का, इसमें निराशा नहीं आशा है, अनास्था नहीं आस्था है। उम्मीदें मौजूद हैं। कवि ने लिखा है—

"बहुत कुछ बीत गया है जे.एन.यू. में
लेकिन बहुत कुछ बाकी है
और जो बाकी है उसको बचाने की जिद
होनी चाहिए सब में।"

—**यथोपरि, पृ. 110**

जे.एन.यू. को स्थानवाची न माना जाए तो कितना व्यापक अर्थ द्योतित होता है उपर्युक्त पंक्तियों से। जो कुछ शेष है उसे सम्हालें, उसे बचाए रखने का प्रयास करें तो निराशा

के घने अंधकार में आशारूपी दामिनी कौंध सकती है। इससे अनन्त संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त होंगे। एक नया सवेरा होगा।

अपनी अन्य कविताओं की भाँति जितेन्द्र ने इस कविता में भी लोकभाषा के शब्दों को अनायास पिरोया है। यह कविता बार-बार पढ़े जाने की माँग करती है। शब्दों के वाग्जाल या चक्रव्यूह में कविता उलझाए नहीं रखती। छोटे-छोटे पदों से और सीधेपन से कहकर मानों कवि ने संवाद स्थापित किया है अपने पाठकों से। फलस्वरूप, इस कविता की पठनीयता बनी रहती है। गंभीर से गंभीर विषय को सहज भाषा में व्यंजित करने की कला कवि जितेन्द्र के पास मौजूद है। देश और काल के तमाम सवालों से टकराती है यह कविता। बेहतर विकल्प की तलाश भी करती है।

अपने समय, समाज, देश-परदेश की समस्याओं और चिंताओं को समेटने वाली इस लम्बी कविता का फलक व्यापक है। यह एक बहुआयामी कविता है। वर्तमान समय की समीक्षा है। बदले हालातों से निजात पाने के लिए वैचारिक खुराक देने वाली कविता है।

(3)

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में आम आदमी की मौजूदगी बड़ी शिद्दत के साथ मिलती है। कवि इस आदमी से संवाद करता है। यह संवाद आत्मीयतापूर्ण है। इसी क्रम में कविताओं में यथार्थ के विविध रूप उभरकर आते हैं। जीवन की विडंबनाओं का चित्रण होता है। साथ ही, श्रम और सौंदर्य का अद्भुत समन्वय भी। आत्मसंघर्ष भी चित्रित होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो श्रमशील मनुष्य के प्रति जितेन्द्र की प्रतिबद्धता औरों से भिन्न है। गाँव से शहर, शहर से महानगर, महानगर से पहाड़ और फिर से महानगरीय मेहनतकशों की आंतरिक दुनिया में कविता पहुँचती है। स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कवि ने आम आदमी या मेहनतकश लोगों के जो चित्र अंकित किये हैं वहाँ सहानुभूति नहीं बल्कि संवेदना है। तभी तो कवि के अंतर्मन ने सुप्त व्यक्ति के पीछे छिपे अथाह दुःख को जानने-समझने की गहरी ललक दिखाई है। 'एक सोते हुए आदमी को देखकर' शीर्षक कविता में कवि ने अपने से पूछा है—

''क्या ऐसा नहीं हो सकता
कि वह सबसे दुःखी प्राणी हो धरती का
और दुःख को मुँह चिढ़ाने के लिए
अभिनय कर रहा हो निश्चिंत सोने का?''

—असुंदर सुंदर, पृ. 12

इसी प्रकार 'किरायेदार की तरह' कविता में लोकल ट्रेन में सवार होने वाली गाना-वाना गाकर माँगने वाली औरतों की व्यथा-कथा बड़ी मार्मिक है। हाशिये की औरत के प्रति समाज की उपेक्षा भी चित्रित हुई है। 'भीतर ही भीतर तिलमिलाती' रहती है—

''पर गायब नहीं होने देतीं होठों की हँसी
उन्हें हँसाता रहता है पेट का डर।''

—यथोपरि, पृ. 74

भैंस चराने वाला गूँगा-बहरा बोधू अपने 'पीयराये दाँतों और झौंसाये चेहरे' के साथ पाठक के सामने उपस्थित होता है। बोधू के विलक्षण शब्द-चित्र अंकित हैं—

''प्रतिरोध में पी जाता था अपने आँसू
और अगले ही घंटे फिर लग जाता था काम पर
जैसे कोई और चारा ही न हो उसके पास''

—यथोपरि, पृ. 119

जितेन्द्र की कविताओं में मजदूरों की विपन्न दशा भी रूपायित हुई है। मजदूरों को छल-कपट नहीं आता। ईमानदारी और मेहनत से प्राप्त मजूरी से वे गुजारा करते हैं। आज के संदर्भ में ईमानदारी का कितना महत्त्व है, यह किसी से छिपा नहीं हैं। कवि-मन इस ईमानदारी को देखकर अत्यंत प्रसन्न होता है। चारों ओर भ्रष्टाचार और हवालों का बोलबाला है जिससे समाज तथा देश प्रभावित हो रहे हैं। ऐसे में ''अपनी आत्मा को बचा पाना गर्व और गौरव का विषय है। प्रशासन लूट रहा है और व्यवस्था की लूट भी जारी है। इससे महँगाई तो बढ़ ही रही है; मजदूरों की स्थिति विपन्न हो रही है। बावजूद इसके, मजदूर विश्वास के पात्र हैं। इन्हीं के चलते हमारा समाज जिंदा है, विश्वास बना हुआ है और ईमानदारी कुछ हद तक सही, जीवित तो है''—

''श्रम की आँच में तपे इनके चेहरे...
इन्होंने पुतलियों की तरह बचाया है अपनी आत्मा को
ये पहरुए हैं विश्वास के
ये पहचान हैं अपनी मिट्टी की।''

—यथोपरि, पृ. 53

जितेन्द्र की कविताओं में साधारणजन और उपेक्षित लोगों के जीवन अंकित हुए हैं। आम आदमी या मामूली आदमी की दर्दनाक कहानी पेश करती है जितेन्द्र की कविता 'खबर'। दुकान के नौकर की मालिक की लापरवाही के चलते हुई मृत्यु कोई अकेली घटना नहीं है। ऐसा अक्सर होता है कि आम आदमी मारा जाता है। राजेश जोशी की कविता 'दो पंक्तियों के बीच' में भी 'इत्यादि' वर्ग की ऐसी हालत होती है। जितेन्द्र की प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है—

''वह एक अदना-सा मजदूर
खींचता था ठेला
बाँधकर पीठ पर बोरियाँ कोशिश करता था हँसने की

आख़िर उसकी मौत की ख़बर से
क्या लाभ साम्राज्यवादियों को, सत्तासीनों को, मीडिया को
जो वे दिलचस्पी लें उसकी जवान मौत में।''

जिसकी हत्या हुई वह व्यक्ति मात्र नहीं है। दरअसल, वह समूचे वर्ग का प्रतिनिधि है। [illegible] चरित्र है। आज ऐसी घटनाएँ बिल्कुल आम बन चुकी हैं। कवि इन्हीं उपेक्षित और पीड़ितों का पैरोकार है। उसने स्पष्ट घोषणा की है—

''मैं कवि हूँ/हूँ कवि उनका
जिनको नहीं मयस्सर नींद आँख भर
नहीं मयस्सर अन्न आँत भर
मैं कवि हूँ/हाँ, मैं कवि हूँ
उन उदास खेतों के दुःख का
जिनको सींच रहे हैं आँखों के जल।''

—**यथोपरि, पृ. 66**

प्रगतिशील चेतना के कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में मानवीय संवेदना, प्रखर यथार्थबोध और शोषित व्यक्ति के प्रति गहरा लगाव दिखाई पड़ता है। प्रगतिशील चेतना के प्रति सर्वदा अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए कवि खुलासा करता है—

''इस दुनिया में
ज़िंदगी महज सत्तासीनों के पास नहीं
उनके पास भी है
जिनके बच्चे खो-खप जाते हैं
तो शासन-प्रशासन की सेहत पर
कोई फ़र्क नहीं दिखता है
फिर भी दुनिया चलती है
हालाँकि बदल जाती तो बेहतर होता।''

—**यथोपरि, पृ. 118-19**

यहाँ प्रचलित शासन-व्यवस्था का खुला विरोध किया गया है। मुट्ठीभर लोगों के लिए दुनिया की सारी सुख-सुविधाएँ हुआ करती हैं। कवि एक बेहतर दुनिया का सपना पाले रखता है जहाँ सभी समान हों। जाति-वर्ण-भेद न हो। सभी का समान अधिकार हो। ऐसी एक दुनिया बने तो कवि का सपना सच हो जाए। जितेन्द्र का कवि अपने सपने को पूरा करने का भरसक प्रयास करता है। एक ईमानदार प्रयत्न बना रहता है। यह जितेन्द्र की एक ख़ास 'ज़िद' है और विशेषता भी।

(4)

जितेन्द्र ने अपनी पीढ़ी के रचनाकारों से जो विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है, इसके कई कारणों में से एक कारण उनका लोक-तत्व है। वास्तव में कविता वहीं टिकती है जिसमें लोक उपस्थित होता है। तात्कालिकता का चित्रण कविता नहीं कहलाता। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी से लेकर निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन की कविताओं की कालजयिता बनी हुई है तो इसलिए कि इसमें शास्त्र की तुलना में लोक को अधिक महत्व दिया गया है। हालाँकि, लोक-चित्रण के नाम पर लोक तत्वों को समावेशित कर देने का कोई मतलब नहीं होता है। पहले लोक में जीना पड़ता है, उसमें रचना-बसना पड़ता है। इसके बाद उस लोक को कविता में उतारना होता है। जितेन्द्र की कविताओं में लोक का विवेचन करने से पहले अपने समय की प्रसिद्ध कवयित्री अनामिका को उद्धृत करना अनुचित नहीं लगता है—''जितेन्द्र श्रीवास्तव की बड़ी विशेषता यह है कि उनसे अपनी 'सोनचिरई' नहीं बिसरी और लोक-संदर्भों में राजनीतिक विनियोग का सौष्ठव उन्होंने कायदे से साधा। सिर्फ़ लोक संदर्भों से ही नहीं, शास्त्रीय संदर्भों से (कालिदास से, गालिब से...) इनकी कविता सजग संवाद कायम करती है।'' (सिंह, अनंत कुमार, जनपथ, नवम्बर 2011 में अनामिका का आलेख 'जहाँ अनुभव धूप में अपनी देह सुखाता हैं', पृ. 30) कहना गलत न होगा कि जितेन्द्र की 'सोनचिरई' कविता 'मास्टर पीस' है। इसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसकी कई सार्थक नाट्य प्रस्तुतियाँ भी हो चुकी हैं। लोक-गाथा को कवि ने अद्भुत सफलतापूर्वक समकालीन कविता के साँचे में प्रस्तुत किया है। किस्सागोई तो है ही। नारी-दृष्टि भी है। नारी की विडम्बनाओं की काव्यिक अभिव्यक्ति है। यथार्थ की निष्कपट प्रस्तुति भी मौजूद है। उग्र नारीवाद (रैडिकल फ़ेमिनिज़्म) की दृष्टि से कविता भले ही 'अनफिट' हो जाए लेकिन नारी की सृजनधर्मिता को रेखांकित करने में कवि की कोई चूक नहीं दिखती। पुनः यहाँ नारी पुरुष से किसी भी अर्थ में न्यून नहीं है बल्कि वह पुरुष से श्रेष्ठ साबित होती है। इतना ही नहीं, सभ्यता-समीक्षा की दृष्टि से भी इस कविता का महत्व स्वयंसिद्ध है। नारी जीवन का यथार्थ स्वीकार करते हुए कवि ने जो दृष्टि स्थापित की है, उसकी प्रशंसा जितनी भी की जाए वह कम ही होगी। जहाँ तक स्मरण है, यह कविता 1998 में 'पहल' के किसी अंक में प्रकाशित हुई थी। तब से लेकर आज तक इस कविता ने जो 'माईलस्टोन' अर्जित की है, वह कवि की सर्वाधिक उपलब्धि है। सोहर सुनने के बाद यह कविता लिखी गई है। लोक-परम्परा कविता में तब तक चलती है जब राज-घराने के सभी आत्मीय, बाघिन, नागिन, माँ तथा धरती में से भी सोनचिरई को पनाह देने से इनकार कर दिया। इसके पश्चात् कवि लिखता है—

''और मित्रो इसके आगे जो हुआ
वह किसी किस्से में नहीं है।''

—**इन दिनों हालचाल, पृ. 22**

यहाँ से कविता में नया पड़ाव आता है, आधुनिकता या यूँ कहें कि समकालीनता जुड़ती है। कवि के इतिहासबोध का अहसास भी कराती है कविता 'सोनचिरई'। इन बातों का विस्तार किये बिना इस कविता के एक अन्य बिन्दु को सामने लाना आवश्यक प्रतीत होता है। सोनचिरई की अर्थी को कंधा देते हैं उसके आठ बेटे। मृत्यु फिर भी उल्लास! मृत्यु में भी प्रेम का अभिषेक! दुर्लभ है ऐसा चित्रण। समकालीन हिन्दी कविता की बड़ी उपलब्धि है 'सोनचिरई'। लोक में बिना रचे-बसे ऐसी कविताएँ नहीं जनमतीं। 'इन दिनों हालचाल' के नये रूप में चयन एवं संपादन करने वाले दिनेश श्रीनेत ने सही लिखा है—

"उसने दिल्ली की चौंध और जे.एन.यू. की आधुनिकता में खुद के वजूद को मिटने नहीं दिया। उसने ज़िद करके स्मृतियो की गठरी अपने कंधे पर लादी और उन्हें हरदम साथ लिए रहा। उसने इनकार किया। हर दूरी से इनकार... जितेन्द्र ने लोगों को, शहरों को, अपने गाँव को, यहाँ तक कि नदी को उसकी स्मृतियों के साथ शुरू किया। उन्होंने स्मृतियों की पुनर्व्याख्या भी की और 'सोनचिरई' व 'गुर्रा नदी' जैसी अविस्मरणीय कविताओं को रचा।"

—यथोपरि, पृ. 17

जितेन्द्र श्रीवास्तव के 'अनभै कथा' में 'नवान्न', 'बँसुला', 'खुरपी', 'बैल', 'पहाड़'; सात कविताएँ', 'धतूरा', 'भुट्टा', 'कुदाल' आदि कविताएँ किसानी सभ्यता और संस्कृति से ही सम्बन्धित नहीं हैं बल्कि लोक-जीवन के सतरंगी बिंब प्रस्तुत करती हैं। इसके बाद के कविता-संकलनों में भी लोक-चित्रण का अभाव नहीं है। जितेन्द्र की कविताओं में लोक-जीवन का विविधता के साथ चित्रण मिलता है। लोक के विभिन्न रूपों की मौजूदगी है। कवि की देशजता उसकी विशिष्टता की पहचान है। कवि का 'लोक' नैसर्गिक, अनायास और स्वतःपूर्ण रूप से उभरा है। कृत्रिमता और सायासता से कोसों दूर है।

कवि ने अपने परिवेश के भूगोल को जीवित तो किया ही है, इसके साथ लोक-जीवन को भी उकेरा है। ऐसे दर्जनों शब्दों से जितेन्द्र के पाठक रू-ब-रू हो सकते हैं जो लोक से कविता में घुल-मिल गये हैं। कई क्रियारूप भी संभवतः पहली बार हिन्दी कविता में प्रयुक्त हुए हैं। तिजहरी (पृ. 15), हरियर-हरियर, पीयर-पीयर (पृ. 20), धधाकर मिलते हैं लोग (पृ. 36), लोक पानीदार (पृ. 36), सोनमछरी (पृ. 71), भरापन (पृ. 74), लट-ओरियान (पृ. 77), मन रूँधित (पृ. 83), छीना-झपटी (पृ. 89), पियराई (पृ. 90) आदि के प्रयोग से खड़ी बोली की कविता समृद्ध हुई है। पुनः इन प्रयोगों से कवि का निजी लहज़ा भी स्पष्ट होता है। भाषा के प्रति, शब्द-चयन के प्रति जितेन्द्र सचेत हैं। दरअसल, 1986 से लेकर 2011 तक यानी पिछले पचीस वर्षों की काव्य-साधना के पश्चात् कविता का जो स्वरूप खड़ा होता है, वह पाठकों को आकृष्ट करता है। शब्दों की मितव्ययिता जितेन्द्र की सामर्थ्य है। बोलने-बतियाने के लहजे में संवादधर्मिता ने पठनीयता को जीवित रखा है।

आज पूँजीवादी शक्तियाँ साम्राज्यवाद की मिलीभगत से लोक को विनष्ट करने के लिए कमर कस रही हैं। समकालीन हिन्दी कविता में विजेन्द्र के बाद की पीढ़ी में से लोक गायब

हो रहा है। दरअसल, लोक को विलुप्त करने के प्रयास के दौर में लोक को स्थापित करने का प्रयत्न अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। लोक को बचाने का मतलब है मनुष्यता को बचाना। साम्राज्यवादी शक्तियों से लोहा लेना भी है। अतः जितेन्द्र के सृजन-जगत् में लोक से प्रेम परम्परा का निर्वाह करना नहीं है। इसमें कवि के साम्राज्यवाद का विरोध और प्रतिरोध भी समाहित है। जितेन्द्र की कविताओं में सर्वहारा की आशाओं और उम्मीदों के चित्र अंकित हुए हैं। लोक में जीवन धारण करते हुए, उससे अभिन्न रूप से जुड़ते हुए संघर्ष को आधार बनाकर जो लोकधर्मिता खड़ी होती है, उसमें सौंदर्य ओत-प्रोत है। वरिष्ठ कवि विजेन्द्र ने लिखा है—"लोकधर्मी सौंदर्यशास्त्र का गहरा संबंध हमारी धरती, जड़ों और जातीयता से है जो कविता जितनी लोकधर्मी सौंदर्यशास्त्र को रचेगी वह उतनी ही हमारे देशवासियों की क्रियाशीलता तथा इच्छा-आकांक्षाओं को कहेगी।" (विजेन्द्र, सौंदर्य शास्त्र : भारतीय चित्त और कविता, संस्करण, पृ. 81) कवि जितेन्द्र की कविता इस अर्थ में भिन्न है कि यह मेहनतकश लोगों के साहस और आस्था के व्यापक अनुभव समेटती चलती है। इसमें कवि के समय, जीवन और स्वभाव चित्रित हुए हैं। कवि का लोक निराला है। यूँ कहा जा सकता है कि कवि का लोक कवि का ही है। अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी आदि से पीड़ित लोगों के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में कवि सिद्धहस्त प्रतीत होता है। जितेन्द्र की लोक-चेतना को अधिक व्याख्यायित न करते हुए केवल कुछ काव्य-पंक्तियाँ प्रस्तुत करना समीचीन लगता है—

"पल्ला गढ़ना हो जुआठ गढ़ना हो
गोड़ा गढ़ना हो पलंग गढ़ना हो
पालना गढ़ना हो चाहे बँसखटिया
कोई भेद नहीं करता बँसला।"

—अनभै कथा, पृ. 42

"खुरपी न हो जिसके घर/गाँवों में
काम पड़ने पर/पलिहर का बानर हो जाता है वह"

—यथोपरि, पृ. 44

"एक दिन कुदार चलाया और
बेंवच गया शरीर
अरे मुँह में कौर नहीं पड़ेगा
तो 'छठी का दूध' याद आ जाएगा।"

—यथोपरि, पृ. 71

"लाल चुनरिया/ओढ़ सँवरिया
विचर रही है खेतों में
हरियर-हरियर फसलों में
पीयर-पीयर माटी में।"

—यथोपरि, पृ. 71

सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में लोक की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति है जो कवि का प्रमुख वैशिष्ट्य है।

पूँजीवादी समाज व्यवस्था में 'प्रेम' भी बिकाऊ है। वह जमाना बीत चुका है कि कबीरदास ने माना था—"प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।" आज समाज काफी बदल चुका है। प्रेम का स्वरूप भी बदल रहा है। 'लिव इन टुगेदर' के जमाने में प्रेम की बात करना मध्यकालीनता समझा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रेम की अतीव आवश्यकता है। हिंसा, घृणा, लूट-पाट, दंगों और वैमनस्य के दौर में प्रेम ही एक ऐसा तत्व है जो सारे संसार को एक सूत्र में पिरो सकता है। जितेन्द्र की कविताओं में प्रेम का व्यापक रूप में चित्रण हुआ है। इसकी व्याप्ति सुदूर तक है। अतः सही कहा गया है—"....प्रेम की व्याप्ति जितेन्द्र की कविताओं में न केवल स्त्री की आंतरिक दुनिया की वेदनाओं तक फैली हुई है बल्कि इसकी ज़द में वह सारा समय-समाज दाखिल होता है जो किसी न किसी रूप में कवि के निजी अनुभव का हिस्सा रह चुका है। यहाँ कवि खुलकर स्वीकार करता है कि वह प्रेम ही है जिसने उसे और उसकी संवेदना को अधिक मानवीय, भावाकुल और निडर बनाया है।" (यथोपरि, फ्लैप से उद्धृत) जितेन्द्र के लिए प्रेम एक संबंध है, सम्पर्क भर नहीं।

साहित्य और प्रेम का अटूट रिश्ता है। सच है कि साहित्य में परकीया प्रेम का आधिक्य रहा है। लेकिन, ऐसा भी नहीं है कि दाम्पत्य-प्रेम के मनमोहक चित्र प्रस्तुत नहीं हुए हैं। रबर्ट ब्राउनिंग हों या सीताकांत महापात्र, केदारनाथ अग्रवाल हों या सुरेन्द्रनाथ मजुमदार—सभी ने विभिन्न युगों में दांपत्य-प्रेम को प्रतिष्ठित किया है। खुशी की बात है कि कवि ने दांपत्य-जीवन के प्रगाढ़ प्रेम को अंकित किया है बिल्कुल अपने ढंग से, नितांत निरालेपन के साथ। कवि के शब्द बहुत ही कम, पर कहते हैं बहुत अधिक। शब्दों में ही नहीं शब्दों के बीच में भी भावों का सगुंफन है। ये भाव कवि-कल्पित नहीं, अंतस् की गहराई से उत्पन्न हैं। अनुभव के रस से पगे हुए हैं।

जितेन्द्र की कविताएँ बहुआयामी हैं। प्रेम कविताओं के विभिन्न संदर्भ हैं तथा विविध परिप्रेक्ष्य। प्रेम के इतने वैविध्य उनके समकालीन कवियों की रचनाओं में अनुपस्थित हैं। दांपत्य प्रेम पर आधारित कविताओं में प्रकृति, समय, समाज, विचार आदि विभिन्न रूप से घुले-मिले हैं। इन कविताओं में 'वासनाजन्य प्रेम' को महत्त्व नहीं दिया गया है। साथ-साथ दशकों बिताने के पश्चात् उत्पन्न प्रेम की प्रतिष्ठा है। साहचर्य से उत्पन्न प्रेम है यह। 'देह' है पर, देह सबकुछ नहीं है। प्रियतमा से दूर रहकर भी बिल्कुल उसके पास होने के एहसास से कवि भरा रहता है—"*तुम रहती हो/गहरे बहुत गहरे कहीं/मेरी आत्मा के रस में घुली हुई/जीवन रस की तरह।*"

—यथोपरि, पृ. 24-25

'*सिर्फ देह*' होती तो क्षण भर के लिए एहसास होता। कवि निश्छल रूप से व्यक्त करता है—"*यह प्रेम बोध नहीं क्षण भर का/यह यात्रा है जीव की।*" प्रेम में भौगोलिक दूरी नैकट्य का भाव बनाये रखती है। छोटी-छोटी स्मृतियों व घटनाओं के आधार पर रची गई कविताएँ, पाठक के अंतर्मन को प्रेम से सराबोर कर देती हैं। सैकड़ों कोस दूर रहकर भी प्रेमी स्पष्टतया देख पाता है—

"तुम्हारे माथे पर
उभर आयी रेखाएँ
मेरे हाथ की लकीरों जैसी दिखती हैं।" **—यथोपरि, पृ. 23**

अगाध विश्वास, प्रबल आस्था, समानता से खाद-पानी ग्रहण करती है जितेन्द्र की दुनिया। आज के संशयग्रस्त, संदेहग्रसित अविश्वास भरे समय में जितेन्द्र की निम्न पंक्तियाँ अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती हैं—

"तुम्हारा कहीं भी होना
मेरे साथ होना है
मेरा कहीं भी होना
तुम्हारे साथ होना है।" **—यथोपरि, पृ. 14**

इस अनोखे प्रेम-संबंध में 'साथ होना' से भी बढ़कर है 'आँख में रहना'। विदाई के वक्त में कवि स्पष्टतया स्वीकार करता है यानी महसूस करता है—"इतने वर्ष शहर में नहीं/तुम्हारी आँख में रहा हूँ मैं/जब तुम नहीं/फिर मैं कहा!" **—यथोपरि, पृ. 12**

इस संग्रह की एक उल्लेखनीय विशेषता है कि कवि ने अपनी पत्नी-प्रियतमा को अपने से भी अधिक महत्त्व दिया है। अपनी पत्नी-प्रियतमा के प्रेम को प्रतिष्ठित करता है। कवि का सम्पूर्ण अस्तित्व 'तुम' पर निर्भर करता है। वह मुक्त-कंठ से 'तुम' की प्रशंसा करते नहीं अघाता—"जो सब कुछ कर लेती हो हँसती हुई चुपचाप।" कवि की स्वीकारोक्ति है कि वह 'तुम' जैसा बन पाने की कोशिश करेगा। 'तुम' की तरह बनने, सुनने का प्रयास करेगा। कवि के शब्दों में—"फिर भी एक इच्छा है मन में/कि अबकी जब मैं घर जाऊँ/तुम अपनी कहो/अपने जैसों कि कहो/और मैं सुनूँ उसी तरह/जैसे सुनती हो तुम/वैसे सच-सच बताना/क्या तुम्हें लगता है मैं सबकुछ सुन पाऊँगा/बिल्कुल तुम्हारी तरह।"

—यथोपरि, पृ. 62-63

ध्यान देने की बात है कि न तो यहाँ 'आइडेंटिटी क्राइसिस' का सवाल है और न ही संबंधों की टकराहट है। रोज-ब-रोज टूटते-बिखरते पारिवारिक संबंधों का दंश भी नहीं है। कवि अपने समय और समाज से बेखबर नहीं है, घरेलू हिंसा, संबंध-विच्छेद, असहिष्णुता से भरपूर समाज के लिए कवि की पंक्तियाँ 'कैप्सूल' बनकर आती हैं। कवि ने अपनी कविताओं में छोटी-छोटी स्मृतियों और मामूली घटनाओं को असाधारण बना दिया है।

मसलन, इसी कविता 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' की कुछ पंक्तियाँ—"पर क्या करूँ/कहाँ से लाऊँ/अपने भीतर एक स्त्री की आत्मा!/वह भी एक ऐसे समय में/जब बच्चियाँ मारी जा रही हैं कोख में ही।" (यथोपरि, पृ. 62) भ्रूणहत्या की चिंता तो है ही, पुरुषवादी वर्चस्व की जघन्य मानसिकता का पराभव भी है। कवि का सपना है एक प्रेममय समाज। उसकी स्थापना प्रेम से ही संभव है। ओछी मानसिकता को त्यागने के पश्चात् वैसा मुमकिन हो सकता है। मर्दवादी सामाजिक संरचना में बहुत कम कवियों के पास साहस होगा यह कहने के लिए कि "स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को"। 'स्मृतियों में बसी स्त्री' ही पुरुष को कुमार्ग से बचाती है, पथभ्रष्ट हो जाने से रोक लेती है और अकाल मृत्यु से उद्धार कर लेती है।

यहाँ एक अन्य उल्लेखनीय खूबी है कि प्रकृति प्रेम के इशारे पर उसके अनुकूल चलती है। तमाम कविताओं में यह वैशिष्ट्य नजर आता है। ऐसा तब संभव होता है जब कवि का कर्म, धर्म, सपना, उद्देश्य प्रेम हो। प्रियतमा के आगमन पर प्रकृति चल-चंचल हो उठती है। प्रियतम का मन खिल उठना तो स्वाभाविक है ही—"चली हवा/झुका पीपल/सिहरी डाली हरसिंगार की/मन खिला बसंत का।" (यथोपरि, पृ. 28) पुनः पुरानी यादों को तरोताजा करने के लिए प्रेमिका ने बक्से से चिट्ठी निकाली तो—"चाँद मुस्करा दिया होगा हौले-से।" या फिर, प्रेमिका की हँसी की प्रतिक्रिया प्रकृति पर यूँ होती है—

"तुम हँसी और नंदादेवी की चोटियों पर
खिल उठी धूप
पसर गया उजास पर्वत प्रदेश में
जैसे पसरता है मेरे मन में।"

—यथोपरि, पृ. 20

समकालीन कविता में घर की चिंता बार-बार दिखाई पड़ती है। चंद्रकांत देवताले, नरेश सक्सेना, भगवत रावत, राजेश जोशी, अरुण कमल आदि की कविताओं में रचे-बसे घर की चिंता जितेन्द्र को भी है। 'घर' मकान में तब्दील हो रहे हैं, 'फ्लैट' या 'कॉटेज' में बदल रहे हैं। जितेन्द्र की प्रेम कविताओं में समय की यह बिडम्बना बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित हुई है। ईंट, लोहा, बालू, सीमेंट से घर कहाँ बनता है? घर बनता है स्नेह, प्रेम, विश्वास और संवेदना के भण्डार से। इसलिए कवि के कदम उस घर की ओर भागते हैं—"मेरे कदम भागते हैं हर साँस के साथ/मैं पहुँचता हूँ घर जहाँ/मेरी प्रतीक्षा से लम्बी एक प्रतीक्षा/राह अगोरती मिलती है मुझसे।" (यथोपरि, पृ. 87) 'घर' मधुर संबंध का प्रतीक है। प्रेम का निकेतन है। 'घर की चाय' शीर्षक कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं—"पत्नी के बिना/घर की चाय/लगा जैसे/गरम पानी उतारना हो हलक में।" (यथोपरि, पृ. 91) इसी प्रकार कवि को तलाश है एक घर की—"अब मिली हो तुम/लगता है/घर भी मिल जायेगा/तुम्हारी बाँहों में/तुम्हारे प्यार में/तुम्हारी मुस्कान में।" (यथोपरि, पृ. 69) कवि जितेन्द्र की कविताओं में अभिव्यक्त प्रेम समाज से संपृक्त है। मानव-जीवन की मूल्यवत्ता व सारवत्ता बनकर प्रेम उज्जीवित हुआ है—"लोग आते हैं/खिलखिला उठता है घर।" **—यथोपरि, पृ. 54**

आलोच्य कविता-संग्रह में समय और समाज के अँधेरे कोने कुचालों की ओर संकेत है। लेकिन इस संग्रह में कवि का उद्देश्य रहा है उन अँधेरे कोनों से मनुष्य को उबारकर सतत उजास की ओर प्रेरित करना। उन संभावनाओं को तलाशा एवं तरासा जाए जिससे हताश, उदास, क्लांत, भयभीत मनुष्य डरे नहीं, सहमे नहीं, निराश न हो। कवि का आग्रह है—"यह समय तुम्हारा है/सिर्फ तुम्हारा/उठो, लपककर छू लो आकाश/यह धरती भी तुम्हारी है आकाश भी तुम्हारा।" **—यथोपरि, पृ. 67**

दुःख, निराशा, उदासी आदि से कवि नई ऊर्जा ग्रहण करता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संघर्षरत रहता है। अदम्य जिजीविषा के साथ जीवन को जीने के लिए प्रेरित करता है। कवि कहता है—"देखो, तुम्हारे पति के पास/एक किसान की विरासत है/उसने अपने पिता की आँखों में/कभी साँझ नहीं देखी/अपनी माँ को कभी हारते नहीं देखा/उन दुर्दिनों में भी नहीं/जब कैंसरग्रस्त पिता मृत्यु से जूझ रहे थे।" (यथोपरि, पृ. 95) कवि ने एक ऐसा शहर बसाना चाहा है जहाँ भेदभाव न हो, कोई अत्याचार न हो, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का विवाद न हो। उस शहर में मनुष्य हों और बची रहे मनुष्यता—"उस शहर में कोई किसी का राजा नहीं/कोई किसी की प्रजा नहीं/कोई किसी के अधिकार में नहीं रहता/कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।" **—यथोपरि, पृ. 81**

ज़ाहिर है कि ऐसा शहर प्रेम की आधारशिला पर ही निर्मित किया जा सकता है। प्रेम की चिरंतनता पर एक उत्कृष्ट कविता है 'सपने में एक लड़की-सोनमछरी' जिसमें कस्बाई निर्धन बच्चे के सपने में आने वाली सोनमछरी का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

सच है कि 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' जितेन्द्र की प्रेम-कविताओं का संग्रह है लेकिन यह प्रेम के मार्फत उन मानवीय संबंधों का अन्वेषण भी है जिन्हें हमारे पारंपरिक, पारिवारिक या सामाजिक नाते-रिश्तों के दायरे में नहीं समेटा जा सकता है। इस दृष्टि से इस संकलन की कविताओं का विशेष महत्त्व है। कविता में अभिव्यक्त कवि की जीवनदृष्टि यह सिद्ध करती है कि उसकी कविता पूरे देश-काल में अंतर्निहित कविता है। कवि अकेले नहीं साथ-साथ जीने की अभिलाषा प्रकट करता है। इससे जीवन सँवार सकता है। कवि के शब्दों में—"जीवन चार आँखों से देखा गया एक सपना/बीस ऊँगलियों से तराशी हुई एक तस्वीर/चार पैरों से चली हुई दूरी/बिन बोले चार अधरों का कंपन/बिन कहे एक दूजे के लिए बटोरा ऑक्सीजन है।" **—यथोपरि, पृ. 22**

'बिल्कुल तुम्हारी तरह' की कुल 61 कविताओं में से अधिकांश कविताएँ ताज़े-टटके बिंब निर्मित करती हैं। इन बिंबों का सर्वथा नया प्रयोग होता है। 'कविताई' को ये बिंब नये आयाम देते हैं। 'उजास : कुछ कविताएँ' शीर्षक के अंतर्गत बारह छोटी-छोटी कविताएँ जितेन्द्र के कवि को मौलिक बनाती हैं। एक-आध उदाहरण दृष्टव्य हैं—

1. *''अधर खुल उसके*
जगह बनी
हवा जाने भर की
शब्द निकला एक
मंदिर में घंटियाँ बज उठीं अनेक।''

—यथोपरि, पृ. 19

2. *''वह साँझ जो आने को है अभी*
ठिठकी खड़ी है पीपल की पत्तियों के बीच देखती-सी
कि तुम जाती हो''

—यथोपरि, पृ. 71

3. *''पलकों पर ठहरी थीं दो बूँदें*
अधरों पर चिलबिल हँसी
एक बूँद ठोढ़ी पर काँपती-सी
अब ढुलकी कि तब ढुलकी।''

—यथोपरि, पृ. 71

'इन दिनों हालचाल', 'अनभै कथा', 'असुंदर सुंदर' कविता-संग्रहों के पश्चात् 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' का विशेष महत्त्व है। जितेन्द्र श्रीवास्तव ने अपने अंतरतम प्रेम-सौंदर्य के माध्यम से सुंदर समाज के निर्माण का सपना देखा है।

इस संदर्भ को विराम देने से पहले कपिलदेव के कथन को उद्धृत करना अनुचित न होगा—''जितेन्द्र का कवि सरल निश्छल जीवन की खोज में हर उस जगह जाना चाहता है, जहाँ प्रेम एक आदत की तरह हो—मानो जीवन का सार। गौर करने की बात है कि जितेन्द्र एक युवा कवि हैं और शायद इस मामले में अकेले कि अपने निजी प्रेम-प्रसंगों को लगभग उसी किशोर भावुकता और रोमानियत के साथ उन्होंने अपनी कविता का विषय बना दिया है जैसा कि अनुभूति के टटकेपन में उसने महसूस किया होगा।... जितेन्द्र का 'प्रेम' दैहिक दायरे से निकलकर अपने विस्तार में पूरी कायनात को समेट लेने को उत्सुक है। न केवल उत्सुक, बल्कि कल्पना की असंभव हदों तक जाकर उस स्वप्न-संसार को संभव कर लेना चाहता है।''

—कपिलदेव, अंतर्वस्तु का सौंदर्य, पृ. 46-47

(5)

अब जितेन्द्र की कुछ कविताओं का उल्लेख भर किया जा सकता है जिनके केन्द्र में कवि की नारी दृष्टि है। बताना अनावश्यक न होगा कि कवि की अपनी पत्नी-प्रियतमा, बेटियों से संबंधित कविताओं के अलावा 'लड़कियाँ', 'राय प्रवीन', 'आभा चतुर्वेदी', 'जनवरी की एक सुबह उठी तीन स्त्रियाँ', 'दुःख पहाड़ का', 'किरायेदार की तरह', 'तुम कहाँ हो सुलेखा', 'सपने में एक लड़की सोनमछरी', 'परवीन बॉबी', 'पुकार' आदि पचासों कविताएँ हैं जहाँ नारी का मुक्ति-संघर्ष रूपायित हुआ है। नारी की इच्छा के बारे में बताया गया है

कि नारी चाहती है संवेदना का विस्तार। सहभागिता। बराबरी का अधिकार। वह साथ-साथ चलने का सपना साकार करना चाहती है। नारी-विमर्श का पुरुष पाठ नहीं है जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ। कवि 'कायांतरण' से बड़ी शिद्दत के साथ अपनी स्त्री को स्पष्ट करता है। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा जितेन्द्र की खूबी है। स्त्री दोयम दर्जे की नहीं, सहभागिनी है। वह मनुष्य पहले है नारी बाद में। इस दृष्टिकोण ने जितेन्द्र को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

जितेन्द्र की नारी महानगरी आभिजात्य बोध वाली 'अल्ट्रा मॉडर्न' नारी नहीं है जो पार्टियों में खूब शेखी बघारती है। उनकी नारी नारी-विमर्श का डंका भी बजाती नहीं फिरती। लेकिन जितेंद्र की नारी रक्त-मांस की बनी हुई होती है। 'घास गढ़ती औरतें' शीर्षक कविता में कवि ने अपनी नारी दृष्टि का जो परिचय दिया है वह किसी भी अर्थ में पारंपरिक या दकियानूसी विचार की नहीं है—

''जायज बातों पर खुश
और नाजायज बातों पर
साड़ी खूंटियाकर लड़ने को तैयार
घास गढ़ती औरतों
कभी नहीं सिखाती हैं जवान होती बेटियों को
कि पति परमेश्वर होता है।''

—इन दिनों हालचाल, पृ. 40

जितेन्द्र की कविता में 'शोर' नहीं है। बड़े गम्भीर विषय को भी अति सहज रूप में कहने की कला है कवि के पास। 'पति परमेश्वर' नहीं होता है अर्थात् होता है, सहगामी होता है। उससे अधिक कुछ नहीं होता। पत्नी कुछ कमतर नहीं होती। इस प्रकार के तमाम भाव चंद शब्दों में प्रकट कर देना जितेन्द्र का वैशिष्ट्य है। ''अमित अरथ आखर थोरे।'' इस कविता के अंत में कवि की दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट होती है—

''बोरसी की राख में छिपाकर
रख देती हैं थोड़ी-सी आग।''

—यथोपरि, पृ. 41

'थोड़ी-सी आग' रागात्मक संबंध का प्रतीक बनकर आ सकती है। आने वाले कल के लिए सुखद कामना हेतु भी हो सकती है। विद्रोह के अर्थ में भी आग प्रयुक्त हो सकती है। संबंधों की उष्मा हेतु भी प्रयुक्त हो सकती है जिसे बचाए रखने का प्रयास करती है घास गढ़ती औरत। नवसृजन हेतु भी आग की आवश्यकता है।

जितेन्द्र की दृष्टि में नारी खिलौना नहीं होती कि जब जैसा जी चाहे उससे खेल लिया जाये। उसकी अपनी मर्जी होती है। उस पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता। उसे यानी उसकी संवेदनाओं को जानना-समझना आवश्यक है। कवि के शब्दों में—

"औरतें खूबसूरत पहाड़ नहीं होतीं
जिनकी कोई मर्जी न हो
औरतें बिस्तर भी नहीं होतीं
न ही नुमाइश।"

—यथोपरि, पृ. 59

'नैतिकता के बाहरी कोतवालों को' अस्वीकार करने वाली 'परवीन बॉबी' हो अथवा पत्नी का अपनी माँग पर 'सिंदूर' धारण करना हो, 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को' हो या 'वे उड़ती हैं गोरैया की तरह', यत्र-तत्र सर्वत्र जितेन्द्र की कविताओं के केन्द्र में स्त्री स्थित है। कपिलदेव ने लिखा है— "इन कविताओं में स्त्री की 'सप्रेस्ड पर्सनैलिटी' को देखने का मानवीय प्रयत्न झाँकता है। यहाँ स्त्री की उफनाती हुई, विमर्श करती हुई, मुक्त यौनता का कोई घटाटोप भी नहीं है। यहाँ तो पूरे भारतीय-पारंपरिक संदर्भों में पुरुषों से पिटती हुई दमित, प्रताड़ित और शहीद होती हुई एक ऐसी स्त्री है जिसे अभी अपने होने की अस्मिता-चेतना प्राप्त करनी है।" (अंतर्वस्तु का सौंदर्य, पृ. 49-50) संक्षेप में, जितेन्द्र की स्त्री-दृष्टि व्यापक तथा प्रासंगिक है। यथार्थ है तो आदर्श भी, दोनों का समन्वय भी।

(6)

समकालीन हिन्दी कविता में किसान जीवन के अनुपस्थित होने की शिकायत होती है। आलोचकों ने भी बार-बार इस ओर कवियों का ध्यान बँटाना चाहा है। किसानों की आत्महत्या, उनके त्रासद जीवन, विसंगतियों और विडंबनाओं की ओर समकालीन कवि नजरअंदाज करता रहा है—ऐसी आपत्तियाँ भी उठाई जाती रही हैं। परंतु, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विनोद दास की कई कविताओं में किसान-चिंता है। जितेन्द्र तो स्वीकार करते हैं कि किसान-चेतना उन्हें विरासत में प्राप्त है। किसान-पत्नी के जीवन का वर्णन करते हुए जितेन्द्र लिखते हैं—

"वे औरतें कभी रोपती हैं धान
कभी काटती हैं गेहूँ
कभी करती हैं सोहनी
कभी उठाती हैं गारा-माटी
और कभी-कभी बिलखती हैं सखियों संग
अपने होने को लेकर।"

—असुंदर सुंदर, पृ. 94

परम्परा के साथ संबंध स्थापित करते हुए कवि ने समकालीन यथार्थ को चित्रित किया है। किसानों के संदर्भ में बात करते हुए कवि शब्द-चित्र बनाता है—

"पर यह सुबह सुहानी है कि उम्मीद बुझाती
ठीक-ठीक बतायेंगे वे किसान

जो तार-तार धोती लपेटे मिर्जई अंटकाए
देखते हैं कभी खलिहान कभी बादल।"

—अनभै कथा, पृ. 97

प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' का हल्कू की बरबस याद आती है जितेन्द्र के किसान की दशा का चित्र पढ़कर। कवि जितेन्द्र की कविताओं में लोक है, किसान जीवन में प्रयुक्त होने वाले तमाम उपकरण हैं तो स्वाभाविक है कि किसान-चेतना से समृद्ध कविताएँ भी होंगे। हैं भी। जितेन्द्र न केवल किसान जीवन की दुर्दशा अभिव्यक्त करते हैं बल्कि उन पर गहरा विश्वास भी रखते हैं—

"यह धूम है कि आग
ठीक-ठीक बताएँगे वे किसान
जो बिना पनही महसूसते हैं इसका असर
धरती पर/आत्मा पर।"

—यथोपरि, पृ. 98

भूख और लाचारी, अभावग्रस्तता और दरिद्रता, अशिक्षा और बीमारी के चलते किसान आत्महत्या कर रहे हैं अथवा असमय मारे जा रहे हैं। एक तबका नाच-गान में मस्त है जो शासक के नाम से जाना जाता है। कवि ने लिखा है—

"अब भी असंख्य, 'होरियों' की गर्दनें दबी हुई हैं
'नए रायसाहबों' की टाँगों के बीच।"

—कायांतरण, पृ. 47

युगीन भयावहता में किसान जीवन की करुण गाथा जितेन्द्र की कई कविताओं में चित्रित हुई है। यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि किसान-चेतना के माध्यम से जितेन्द्र केवल आर्थिक संदर्भ की चिंता प्रकट नहीं कर रहे होते हैं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को भी उपस्थापित करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जितेन्द्र की कविता की दुनिया के विविध संदर्भ भी खुलते जाते हैं।

(7)

साम्प्रदायिक फासीवाद देश का क्रूर यथार्थ बना हुआ है। धार्मिक सत्ता, साम्प्रदायिकता एवं आतंकवाद समाज की कटु सच्चाइयाँ हैं। धर्म ने सत्ता का रूप धारण कर लिया है। फलस्वरूप, आक्रामकता और कट्टरता फैलने लगी है। जब साम्प्रदायिकता सुरसा की तरह अपना मुख फैलाती है तो धार्मिकता को कीड़े-मकोड़े की तरह निगलती चलती है। साम्प्रदायिकता फैलने लगती है तो धार्मिकता अप्रासंगिक सिद्ध हो जाती है। अपने समय की विसंगतियों से जूझती जितेन्द्र की कविता 'आमी' नदी के किनारे पहुँचकर बुद्ध के आदर्शों को प्रकट करती है तो कबीर की प्रासंगिकता को भी उद्घाटित करती है। साम्प्रदायिक उन्माद के नये रूपों बाबरी मस्जिद या अहमदाबाद को दर्ज करती है। अतः जितेन्द्र सोची-समझी साज़िश को अंजाम देने वाली साम्प्रदायिकता की सच्चाई को सामने लाते हैं। मानवता का गला घोंटने वालों,

खंजर भोंकनेवालों तथा त्रिशूल मारने वालों की नंगई को उघाड़ते है। 'किस देश में', 'लुंगी' आदि कविताओं में कवि की साम्प्रदायिकता विरोधी मानसिकता स्पष्ट होती है।

अयोध्या प्रकरण भुलाया तक नहीं गया था कि गोधरा की आग भड़क उठी। इंसानियत फिर से शर्मसार हो गयी। धर्म और मज़हब के नाम पर नंगा नाच देखने को मिला। लोगों को जिंदा जलाया गया और माँ-बहनों की आबरू लूटी गई। कवि-प्राण इससे उद्वेलित होता है, आंदोलित भी। कवि ने इस संहार करने वाली घटना का उल्लेख ही नहीं किया बल्कि उसे नये अर्थ संदर्भ से युक्त भी किया है। अयोध्या और गोधरा क्या केवल भारत के दो स्थान भर हैं? दुनिया के जिस किसी स्थान पर ऐसी संहारकारी लीला घटती है वहाँ अयोध्या, गोधरा, अहमदाबाद खड़े हो जाते हैं—

"पहले एक घर
फिर दूसरा घर
फिर पूरी की पूरी बस्ती
झुलसकर खाक हो जाती है
उसी तीली से।"

—अनभै कथा, पृ. 74

सुखद अतीत और दुःखद वर्तमान के बीच कवि खड़ा होकर सचेत करता है मनुष्यता विरोधी ताकतों की छद्मलीला से। आनी नदी का किनारा रक्तरंजित हो रहा है जिसे देखकर आनी—

"चिल्लाती है गुजरात गुजरात
पूछती है किसी पागल स्त्री की तरह
कहाँ है बुद्ध की धरती
कहाँ है कबीर का वतन"

—यथोपरि, पृ. 61

'एक भाई का पत्र' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ भी गौरतलब हैं—

"जब भी देखता हूँ देश का नक्शा
इस किनारे उस किनारे
यहाँ-वहाँ जहाँ-तहाँ
दिखता है बस अहमदाबाद अहमदाबाद"

—असुंदर सुंदर, पृ. 104

इस संदर्भ में 'जरूर जाऊँगा कलकत्ता' के अंतर्पाठ को भी सामने रखा जा सकता है जब वह मिर्ज़ा गालिब को 'हमारे महाकवि' के रूप में सामने लाता है। दरअसल, साम्प्रदायिक सद्भाव, सौमनस्य और सौहार्द की कामना करती है यह कविता।

पुनः 'लुंगी' शीर्षक कविता की चंद पंक्तियों के माध्यम से जितेन्द्र के दृष्टिकोण का पता चलता है—

"जाने कब से किसानों मजूरों का
कभी भगई कभी तहमद
कभी लुंगी के नाम से लाज रखती वह
किसी धर्म किसी राष्ट्र की कैद में नहीं
किसानों-मजूरों के जीवन में ही
दुख का झंडा बनकर लहराना चाहती है।"

—यथोपरि, पृ. 78

(8)

समकालीन हिन्दी कविता के सामने बड़ी चुनौती है कि 'कविताई' को कैसे बचाया जावे? कुछ नहीं रह गया है। गद्य की भरमार है। कविता की तमीज़ नहीं, पर कवि बनने का दंभ छूटता नहीं। धर-पकड़ से पुरस्कृत भी होते जा रहे हैं कई 'कवि'। ऐसे अराजक समय में जितेन्द्र का कवि-कर्म आश्वस्त करता है। शब्द चयन में अत्यन्त सजग कवि के रूप में जितेन्द्र ख्यात हैं। भाषिक मितव्ययिता जितेन्द्र की खास पहचान है। आश्चर्य होता है कि जितेन्द्र तमाम तरह के संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को सहज तथा सामान्य भाषा में वह भी कविता में उतार कैसे देते हैं? जीवन के जटिल यथार्थ को अत्यंत सहजता के साथ रूपायित कैसे कर पाते हैं? शब्द-जाल से खुद बचकर अपने पाठकों को कभी न उलझाने वाला यह कवि कवि-कर्म को जो रूप प्रदान करता है वह उसका ही वैशिष्ट्य है। "सादगी का यह एक नया काव्य-सौंदर्य है जो शायद हिन्दी की समकालीन कविता में जितेन्द्र के माध्यम से पहली बार संभव हो रहा है।" (जितेन्द्र श्रीवास्तव, कायांतरण, 2012, फ्लैप से।) जितेन्द्र की कविताएँ हमें निराश नहीं करतीं, आशाओं और प्रबल संभावनाओं से भरती हैं। उनकी कविताएँ वर्तमान की विसंगतियों को सामने लाती हैं तो भविष्य की संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त भी करती हैं। विरासत के प्रति प्रेम के चलते अतीत तो है ही। सबसे बड़ी बात है कि ये कविताएँ मानवता की रक्षा हेतु कटिबद्ध हैं। प्रेम को माध्यम बनाती हैं। यह प्रेम जितना पत्नी के प्रति है उतना ही प्रकृति और पर्यावरण के प्रति भी। यह प्रेम जितना मानव-समाज के प्रति है उतना ही अपनी स्वस्थ विरासत के प्रति भी। जितेन्द्र की कविताओं में राजनीति का छल-छद्म सूक्ष्मता के साथ चित्रित हुआ है। लेकिन अपने सद्यतम कविता-संग्रह 'कायांतरण' में यह अधिक मुखर हुआ है। अपने समय और समाज के 'व्यापक चेहरे' को यदि हम ढूँढ़ना चाहें तो जितेन्द्र की कविताओं से गुजरना होगा। कहने में कोई संदेह नहीं कि इस गुजरने की प्रक्रिया में तमाम उम्मीदों से हमारा साक्षात्कार होगा। काव्य-मूल्य और काव्य-विवेक से रू-ब-रू होने का अवसर मिलेगा। कठिन समय में कवि-कर्म की कठिनाई को युवा कवि जितेन्द्र ने जो उदाहरण खड़े किये हैं वे श्लाघ्य हैं, प्रशंसनीय हैं।

□□□

समकालीन कविता में समय और समाज

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में मुक्तिबोध ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में लिखा था—

"कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को।"

—मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 350-51

'वर्तमान समाज' अंतर्विरोधों का है। विडंबनाओं से भरपूर है। पूँजीवादी दौर में कविता भी एक 'प्रॉडक्ट' है। इसका कोई बाज़ार मूल्य नहीं है। बाज़ार मूल्य तो मनुष्य और मनुष्यता का भी नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में मानव की चेतनशीलता और उसकी जागरूकता पर लगातार प्रहार हो रहा है। बावजूद इसके कवि की स्वातंत्र्य चेतना की अभिव्यक्ति होती आ रही है। उसका सपना देखना जारी है और कविता-लेखन भी। दरअसल, कविता-सृजन का आशय है मानवीय भावों, संवेदनाओं और स्वप्नों को जीवित रखने का प्रयास है। पूँजीवादी-बाज़ारवादी समय में सबसे बड़ा संकट मानवता के सामने खड़ा है। इससे हिंदी के वरिष्ठ, परिणत और युवा कवि भली-भाँति परिचित हैं। तभी, वे अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से मनुष्य विरोधी शक्तियों का विरोध तथा प्रतिरोध कर रहे हैं। 'विजयिनी मानवता हो जाय' को अपने कवि-कर्म तथा उद्देश्य बनाकर प्रगतिशीलता का परिचय प्रदान करते आ रहे हैं।

वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह विश्व के यथार्थ का पर्यायवाची बन रहे बाज़ार का विरोध करते हैं। उनके दाने मंडी में न जाने की प्रतिज्ञा करते हैं। कवि भी बाज़ार न जाकर "मोमबत्ती की रोशनी में मैं लिखता रहा कविता" सुनाता है, बाज़ार के समक्ष कविता को खड़ा करता है और कहता है—

"कविता और बाज़ार की एक हलकी-सी भी टक्कर
रोमांचित करती है मुझे।"

इसी तरह हरीश चंद्र पांडेय की एक कविता है 'आम और पत्तियाँ', यह कविता हरीश चंद्र के चौथे कविता संग्रह 'असहमति' (2013) में संगृहीत है। इस कविता की चंद पंक्तियाँ उद्धृत करने के पहले यह बताना आवश्यक है कि हरीश चंद्र पांडे संश्लिष्ट भावों के कवि हैं। उनकी कविताओं में समय की भयानकता चित्रित हुई है तो संवेदना भी जीवंत हो उठी है—

"देशान्तर बिकने को तैयार आम बतियाते हैं आपस में
ओलों से तार-तार हो हवा-हवा के खेल में कैसे हार जाती थीं हमसे पत्तियाँ
कैसे बचाती थीं हमें
कैसे छूती थीं हमारी ठुड्डियाँ बार-बार
ये रस ये मिठास और कहाँ से पाया हमने।"

(पृ. 44)

ऐसा लगाव और साहचर्य का सौंदर्य भला और कहाँ मिल सकता है! पत्तियों के त्याग, समर्पण, सौहार्द, संवेदना का कोई बाज़ार मूल्य नहीं है—'इन्हें बिकना नहीं है।' 'एक सेकिंड सर....' कविता में कवि की चिंता है कि आज बाज़ार घर के दरवाज़े आकर दस्तक दे रहा है। वह हमारे घर में यहाँ तक कि हमारे अंदर कुंडली मारकर बैठ गया है। बाज़ार का छल-छद्म, उसकी साजिशें आदि भी मनुष्य को प्रभावित करने लगे हैं। यह सच है कि हरीशचंद्र की कविता बाज़ार के विरुद्ध 'लाऊड' नहीं है। उनकी कविता का यह स्वभाव भी नहीं है। लेकिन इस कवि ने बहुत कम शब्दों में अथवा चुप्पी में भी बड़ा विरोध प्रगट किया है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की आँधी वैश्विकता के नाम पर स्थानीयता का गला घोंट रही है। हमारी पहचान को मिटाकर उसके रँग में रँगाने की साजिश जारी है। कवि-चिंता अत्यंत मितकथन से जाहिर होती है—"स्थानीयता आत्महत्या करने लगी थी।" (पृ. 59)

भूमंडलीकरण के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, चंद लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए है। मुनाफा हो रहा है पूँजीपत्तियों को। करोड़पति खरबपति बन रहा है तो गरीब सर्वहारा में तबदील हो रहा है। उसके रहन-सहन बद से बदतर होते जा रहे हैं। आर्थिक असमानता की इस विडंबना को कवि रूपायित करता है—

"इस समय जब राजधानी में एक ग्लोबल टेंडर खुलने ही वाला है
उसे समेटना है ताज़ा गोबर"

(पृ. 56)

इस बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था ने नाते-रिश्तों, मानवीय संबंधों में दरार पैदा कर दी है। संबंधों की मजबूत नींव को हिलाकर रख दिया है। हरीश लिखते हैं—

"एक ही फल पर दृष्टि गड़ाये
दो पक्षियों के संबंध हिल रहे हैं..."

(पृ. 63)

देश की लगभग तमाम प्रतिष्ठित हिंदी पत्रिकाओं में प्रतापराव कदम की कविताएँ प्रकाशित होती आ रही है। हिंदी के सुपरिचित कवि प्रतापराव ने बाज़ार की कपट लीलाओं से रू-ब-रू कराया है। बाज़ार संहारकारी भूमिका में हमारे सामने आता है। वह मनुष्य के सपनों को लील लेने के लिए सदा तैयार रहता है। अपने पाँचवें कविता-संग्रह 'उसकी आँखों में कुछ' (2012) की 'बाज़ार ही सत्य मृत्यु की तरह' शीर्षक कविता में प्रतापराव लिखते हैं—

"बाज़ार सत्य है कविता नहीं
मैंने जोड़ा उसमें
मृत्यु सत्य है विचार नहीं
दोनों सत्य को जोड़ो तो
बाज़ार ही सत्य है मृत्यु की तरह"

(पृ. 21)

पूँजी की दृष्टि में मुनाफा ही सर्वोपरि है। लाभार्जन उसका कर्म, धर्म तथा उद्देश्य है। उसकी 'बाज़ारू नज़र' के सामने संस्कृति, संबंध, रिश्ते की उष्मा सब कुछ बिकाऊ है। 'परचून की दुकान खोलूँ या स्कूल', 'क्रंदन तीन शासकों का' आदि कविताओं में उपर्युक्त भाव परिलक्षित होते हैं।

युवा कवयित्री ज्योति चावला का पहला कविता-संग्रह 'माँ का जवान चेहरा' (2013) है। इसे पाठकों ने बड़े प्रेम से पढ़ा है। खूब सराहा है। बाजार वाले प्रसंग पर ज्योति की समझ परिपक्व दिखाई पड़ती है। अभिव्यक्ति भी समर्थ है। उपभोक्तावादी संस्कृति को 'बिग बाज़ार' तथा मॉलों ने खूब बढ़ावा दिया है। वहाँ खूब 'ऑफर' भी दिये जाते हैं उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए। वस्तुओं और सामानों के सामने बूढ़े 'मिस-फिट' घोषित हो रहे हैं। मूल्यों, जीवन-मूल्यों का भला क्या महत्त्व बाज़ार-मूल्य के सामने। यह चिंता का विषय है। ज्योति लिखती हैं—

"आज जहाँ बिग बाज़ार का शॉपिंग मॉल
पुरानी रद्दी के बदले शॉपिंग के नए लुभावने
ऑफर दे रहा है, वहाँ ये बूढ़े
और भी गैर-ज़रूरी मालूम पड़ते हैं।"

(पृ. 67)

हरीशचंद्र पांडे की अधिकांश कविताएँ अपेक्षाकृत छोटी हैं। कुछ लंबी कविताएँ भी हैं। जैसे, 'महाराजिन बुआ', 'वह एक तथ्य था', 'एक सेकिंड सर', 'गाँव के सीमांत पर खड़ा वह पेड़', 'भय के प्रकाश में'। चूँकि वे संश्लिष्ट भावों को शब्दों की मितव्ययिता के आधार पर अभिव्यक्त करते हैं, इसलिए उनकी कविताओं को आसानी से पहचाना जा सकता है। अपने समकाल के कवियों में हरीश की कविताएँ विशिष्ट हैं। पुनः शब्दों के बीच अंतराल का प्रयोग कर वे अपने पाठकों को थोड़ी देर थमने, अर्थबोध करने, फिर आगे बढ़ने हेतु प्रेरित करते हैं। हरीश के लिए कविता कोई फटाफट या जल्दबाजी की वस्तु नहीं है। उनके लिए कविता एक गंभीर विषय है। जीवन का पर्याय है।

'उसकी 'आँखों में कुछ' के कवि ने सत्रह शब्दों की कविता 'गूँज' लिखी है तो महाराष्ट्र का खानदेश क्षेत्र के जन-जीवन में बसे रानी विक्टोरिया का शिल्पी रॉबर्ट और आदिवासी भील कन्या पारो की प्रेम-कहानी के आधार पर 'रॉबर्ट गिल और पारो' शीर्षक लंबी कविता भी। प्रताप राव कदम के लिए कविता अनायास भावाभिव्यक्ति का सहज साधन है। यही बात ज्योति चावला के कवि में बड़ी शिद्दत के साथ पाई जाती है। उनकी कविताओं में 'स्वर की मौलिकता और सादगी' मौजूद है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जो उन्हें विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। अपने पहले कविता संग्रह से ही कवयित्री ने पाठकों की प्रशंसाएँ अर्जित की हैं। कविता की दुनिया में ज्योति का जबर्दस्त प्रवेश हुआ है।

कविता महज शब्दों का खेल नहीं है। यह केवल तकनीक भी नहीं है। यह सुविधा प्रदान करने वाला साधन भी नहीं है। कविता सच्चे कवि के लिए जीवन है। ऑक्सीजन है। कवि वह होता है जो जीवन, समय और समाज की गहराई में पहुँचकर, धँसकर कुछ मोतियों की खोज करता है और उन्हें जन समक्ष पेश कर देता है। सतही समझ और सतही चित्रण करने वाला कवि भी क्या कवि है? उसे तो चाहिए कि वह समय और समाज की विडंबनाओं, घटनाओं, समस्याओं, उथल-पुथलों से आंदोलित हो, उद्वेलित हो। अपने समय और समाज की गति-प्रकृति को हृद्‌बोध किये बिना कविता-लेखन विलास की सामग्री बन सकता है। इस संदर्भ में हरीश, प्रताप राव और ज्योति की कविताएँ हमें निराश नहीं करती हैं। अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि समकालीन हिंदी कविता में किसानों की आत्महत्या पर केंद्रित कविताएँ नहीं लिखी जा रही हैं। विनोद दास से लेकर मनोज कुमार झा तक ने किसानों की करुण गाथा, आत्महत्या पर कविताएँ लिखी हैं। आलोचक आँखें मूँदे रहेंगे तो क्या किया जाए? बहरहाल, हरीशचंद्र पांडे की कविता 'किसान और आत्महत्या' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं—

"जो पितरों के ऋण तारने के लिए
भाषा-भूगोल के प्रायद्वीप नाप डालते हैं
अपने ही ऋणों के दलदल में धँस गये
जो आरुणि की तरह शरीर को ही मेड़ बना लेते थे
मिट्टी में जीवन-द्रव्य बचाने

स्वयं खेत हो गये
कितना आसान है हत्या को आत्महत्या कहना
और दुर्नीति को नीति।''

(पृ. 31-32)

हरीशचंद्र की 'उनका भविष्य', 'पुताईवाला', 'नाम', 'पैदल चलता आदमी', और अन्य कविताओं में सामाजिक प्रतिबद्धता के मनोहारी चित्र अंकित हुए हैं। इस दृष्टि से प्रतापराव की कविताएँ भी उल्लेखनीय हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक प्रपंचों एवं विडंबनाओं को वे बड़े सफल ढंग से पेश करते हैं। इनका प्रतिरोध करते हैं। संग्रह की पहली कविता 'निठारी तो हंडिया का एक चावल है' में कवि कहता है—

''हम हैं उसकी हड्डी, मज्जा, रक्त के सौदागर
औरतों बच्चों! निठारी तो हंडिया का एक चावल है।''

(पृ. 10)

ठीक अगली कविता में वे 'मिड-डे मिल' योजना के तहत होने वाले भ्रष्टाचार का चित्रण करते हैं तो 'लानत भेजता हूँ' शीर्षक कविता में लूली, लंगड़ी और अंधी आस्था पर व्यंग्य प्रहार करते हैं। 'वाह उस्ताद' कविता में हाशिये पर उपेक्षित लोगों को केंद्र में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। सांप्रदायिकता, जातिवाद, प्रांतीयतावाद में सिमटे-सिकुड़े समाज का चित्रण करते हैं। कवि की चिंता है—

''इस विश्वव्यापी मंदी में
खूब चल रही दुकान उनकी
धर्म बिक रहा, जाति भी
तीसरे ने खोली क्षेत्रीयता की दुकान।''

(पृ. 55)

'अनपढ़ गँवार अशिष्ट काली भरड़' को भी अपना काव्य-नायक बनाने वाले प्रतापराव की कविता में कवि का युग स्पंदित होता प्रतीत होता है। असल में, प्रतापराव ने कविता से समाज की यात्रा नहीं की है। उन्होंने समाज से कविता की यात्रा की है, इसलिए उनकी कविता में एक 'एक्टिविस्ट' कवि जीवित है। ईमानदार अभिव्यक्ति उनकी खूबी है। समकालीन कविता के आलोचकों को स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्योति चावला की कविताओं में एकरसता नहीं है। इसमें वैविध्य है। यह विविधता विषय-वस्तु में है तो अभिव्यक्ति के धरातल पर भी। इस कविता संग्रह में किनारे की अनसुनी आवाज को केंद्र में स्थापित करने का निश्चय है तो विमर्श है, प्रतिबद्धता है, संबंधों को बनाये और बचाये रखने को जद्दोजहद भी। ज्योति की बेहतरीन समझ और अभिव्यक्ति का एक नमूना पेश किया जा रहा है—

''यह देश जहाँ एक ओर गोदामों में सड़ता है अनाज
और दूसरी ओर एक भूखी और

बीमार पीढ़ी हो रही है जवान
जहाँ लोग कीड़े-मकोड़ों से छटपटाकर गिर जाते हैं
वहाँ कोई सवाल नहीं करना चाहता सरकार से''

(पृ. 81)

प्रशासन के नाम पर पर शोषण, अव्यवस्था, अराजकता जारी है। कवयित्री को आश्चर्य तथा दुःख है कि—''मेरे देश के लोगों ने अब सवाल करना छोड़ दिया है।'' संग्रह में कई कविताएँ हैं जो सिर्फ सूचना नहीं देती हैं। इन कविताओं से गुज़रकर... ऐसा एहसास होता है कि ये अंदर से झकझोरती हैं, सोचने को विवश करती हैं। ज्योति की कविता घर से समाज, समाज से देश और देश से दुनिया की यात्रा करती-कराती है। 'संबंध' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

''वे रहते हैं कैद उस घर में
जहाँ से बाहर निकलने पर मिलता है
चावल दो रुपये प्रति किलो की दर से
और जो बाहर उनकी पहुँच के दायरे से

उनके दायरे में समा पाते हैं
सिर्फ खाली पेट, उदास आँखें और मजबूरी
उनके भूखे बच्चे घिसट रहे हैं।''

(पृ. 83)

हरीशचंद्र पांडे, प्रतापराव कदम और ज्योति चावला को देश, दुनिया, समाज और राजनीति की गहरी समझ है। यही वज़ह है कि उनकी रचनाओं में विविधता है। सत्ता की विद्रूपता को बेबाकी से उजागर करने की बात हो अथवा स्त्री-मुक्ति का सवाल, मध्य वर्ग का पाखंड हो या आभिजात्य वर्ग का दोहरा चरित्र, इन समकालीन कवियों ने उन पर तीक्ष्ण कटाक्ष किया है ताकि एक स्वस्थ व सुंदर समाज का निर्माण हो सके।

आज का समय तमाम प्रतिकूलताओं से भरा हुआ है। अनास्था, अविश्वास, संदिग्धता, घृणा आदि के वातावरण को चित्रित करते हुए भी कवि की इच्छा नहीं है कि दुनिया में यह माहौल पले-बढ़े। वह चाहता है कि प्रेम-भाव बना रहे। सौहार्द कायम रहे। हरीश की कविता संभावना की तलाश करती है, उम्मीद बनाए रखती है। निराश नहीं करती बल्कि आशावान बनाती है—

1. *''पुण्य और पण्य से परे भी है कुछ अनाम*
   जैसे
   दिवंगता माँ के नवजात को मिल ही जाती है
   कोई दूसरी भरी छाती.....''

   (पृ. 43)

2. *''इसलिए है यह जमीन इतनी प्यारी कि*
   छोड़ना नहीं चाहता इसे कोई तो दम''

   (पृ. 14)

हरीश नि:सार संसार, बयानबाजी, बंजर जमीन से भी कुछ तलाश लेते हैं—

"लगभग ठीक उसी वक्त
एक शिशु
इस पृथ्वी पर अपनी पहली किलकारी मारता है।"

(पृ. 15)

हरीश की कविताएँ बहुआयामी हैं। 'एक नदी सूख गयी', 'असहमति', 'पहाड़' गाँव के सीमांत पर खड़ा वह पेड़' आदि कविताओं के कई पाठ किये जा सकते हैं। इस संग्रह में नारी और प्रेम संबंधी भी उत्कृष्ट कविताएँ मिलती हैं। नदीं का सूखना यानी संवेदनाओं का अभाव है तो पर्यावरणीय चिंता भी है। पतझड़ में नदी की स्थिति के बारे में हरीश लिखते हैं—

"पतझड़ में जब उतर जाते तुम्हारे वसन
तुम्हारा दिगंबरपन देख रात भर रोती रहती नदी कुथलाड़
कि कहीं जीवन की कल-कल, छल-छल से न हो जाओ विरक्त तुम
यों भी नदियाँ रात को ही रोया करती हैं
काली गाढ़ी रजाई के भीतर"

(पृ. 81)

कवि की दृष्टि में प्रेम अनमोल होता है। प्रतिदान की भावना से प्रेरित नहीं—"गाय अपने बुढ़ापे के लिए भी नहीं चाट रही।" (पृ. 77) कवि ने 'माँ के देहावसान पर कई कविताएँ' लिखी हैं। परंतु 'नपना' शीर्षक छोटी कविता में लिखा है—

"नापना चाहता हूँ।
रिक्तता को
जो एक माँ छोड़ जाती है
कोई नपना दे दो"

(पृ. 94)

हरीश की कविता 'ईश्वर' की एक खूबसूरत पंक्ति है—'एक बड़ी सुविधा है ईश्वर।' कुछ भी कर लिया जाए, डंडी मारना हो, आभासी यात्रा का यात्रा-बिल बनाना, आदमी का गला रेंतना या फिर कुछ और, ईश्वर का नाम लेकर कुछ भी किया जा सकता है। इसी तरह प्रताप राव की एक बेहतरीन कविता है 'थाने में देवालय'। थाना परिसर में स्थित देवालय की ओर देखकर अफसर, मवाली, मौलवी, हाकिम, चोर उचक्के, लुटे-पिटे आदि हाथ जोड़ते हैं। कवि ने लिखा है—

"इसमें दोनों होते, नहीं तीनों
लुटे, लूटने वाले और रक्षक
जो अक्सर उस बंदर की तरह नज़र आते
जो बिल्लियों के झगड़े में मजे में रहता सदैव"

(पृ. 74)

प्रताप राव की कविता 'कुछ लोग' से यह साफ पता चलता है कि कवि किन लोगों के साथ है—आगे बैठने वालों के या पीछे बैठने वालों के। वह पीछे वालों के साथ है, क्योंकि ये—

"अवतरित हो जाते ठीक जरूरत के समय
और बगैर प्रभुता बताए, लादे अहसान
जोड़ जाते टूटा हुआ बहुत कुछ।"

(पृ. 93)

'फेसबुक' हो या 'लोटा' प्रताप राव की उत्कृष्ट कविता का निदर्शन प्रस्तुत करती है। प्रतापराव के इस संग्रह में कवि ने तमाम सवाल खड़े किये हैं। ये सवाल व्यवस्था से हैं तो सत्ता से भी हैं। अपने से हैं तो समाज से भी हैं। कृतघ्न समय से टकराकर कवि मानवीय संवेदनाओं को जीवित रखना चाहता है। कई कविताओं में 'लोकेल' जीवित है। खंडवा, मध्यप्रदेश के अन्य स्थानों की प्रकृति को संश्लिष्ट रूप में अंकित किया है। परंतु प्रतापराव कदम की कविताओं में, जिसकी ओर हमारा ध्यान बार-बार आकर्षित होता है, वह है कवि की पक्षधरता और प्रतिकार तथा प्रतिरोध की चेतना। इन्हें आधार बनाकर यह कवि रचना-यात्रा करता है, जिससे वह पाठकों की विश्वसनीयता हासिल करता है। तमाम चालाकियों से भरपूर इस दुनिया की निहायत भद्द होती जा रही है। कवि के शब्दों में—

"साहब
अज्ञात से अखबार में
नौकरी का इश्तेहार देंगे
एक ही आवेदन आएगा भतीजे का।"

(पृ. 112)

इधर हाल के वर्षों में ज्योति चावला की कविताएँ और कहानियाँ लगातार प्रकाशित हुई हैं। उनकी कविताएँ लिखी तो होती हैं सहज-सरल शब्दों में लेकिन उनमें बड़ी अर्थछटाएँ हुआ करती हैं। उसके व्यापक संदर्भ और परिप्रेक्ष्य होते हैं। ज्योति ने अपने समय ही विद्रूपताओं और विसंगतियों को भी पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया है। सामाजिक यथार्थ को आधार बनाकर ज्योति ने कई कविताएँ लिखी हैं। उनका यथार्थ केवल आम आदमी के अभाव को प्रस्तुत नहीं करता है बल्कि समय के तनाव, खींचतान, राजनीति, मूल्यहीनता, आर्थिक असमानता आदि को भी चित्रित करता है। सरकार और आम आदमी के बीच भला क्या संबंध रह गया है—

"सरकारें चुनी तो जाती हैं प्रजा के माध्यम से ही
पर होती नहीं प्रजा के लिए"

(पृ. 40)

हरीश चंद्र पांडे भी कुछ ऐसा ही लिखते हैं—

"प्रजातंत्र टूटा
एक मिथक की तरह....."

(पृ. 57) और भी

“क्यों यह एक तथ्य था
कि राजा को प्रजा ने नहीं
एक दूसरे राजा ने ही अपदस्थ किया था....”

(पृ. 25)

पेड़ केवल पेड़ नहीं होते। वे हमारे पुरखे हैं। हमारी परंपरा और मूल्य के प्रतीक भी। ज्योति की कविता ‘एक जामुन का पेड़’ को इसी रूप में पढ़ा जा सकता है। पर्यावरण के संकट-काल में इस तरह की कविताओं की कुछ और अर्थवत्ता प्रगट होती है। इसी तरह ‘भीड़ देख रही है’ कविता का पाठ सत्ता-विमर्श के आधार पर भी हो सकता है।

ज्योति चावला ने अनेक प्रेम कविताएँ भी लिखी हैं। उनके लिए प्रेम एक एहसास है, अनुभूत सत्य है। उसका स्वरूप विलक्षण है। उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। लैला-मजनूँ, शिरी-फरहाद से भी नहीं। सबसे बड़ी बात है कि प्रेमहीन दुनिया में कवयित्री का अपने प्रेम पर दृढ़ विश्वास है।

ज्योति चावला ने कुछ ऐसी कविताएँ लिखी हैं जो सिर्फ वे ही लिख सकती हैं। जैसे, माँ से संबंधित कविताएँ। ज्योति ने अपनी माँ से संबंधित बेहतरीन कविताएँ लिखी हैं। साथ ही स्वयं माँ बनने के क्रम में कई कविताएँ सृजित की हैं। माँ का हृदय हिमालय से ऊँचा और महासागर से भी गहरा होता है। वह भले रीता हो जाए पर दूसरों को भरती चली जाती है। इस कर्म में वह पूर्णता को प्राप्त करती है। इसलिए, ध्यान दिया जाना चाहिए, कि ज्योति ने अपने प्रथम कविता-संग्रह का नाम रखा है ‘माँ का जवान चेहरा’। ज्योति की बड़ी इच्छा है कि वह एक बार, सिर्फ एक बार माँ का जवान चेहरा देखें—“माँ को माँ होने से पहले देखना एक बार”। लेकिन उन्हें माँ का यह रूप सदा दिखाई पड़ता है—

“माँ मुझे दिखी है हमेशा वैसी ही
जैसी होती है माँ
सफ़ेद बाल और धुंधली आँखें
बच्चों की चिंता में डूबी।”

(पृ. 35)

ज्योति की नारी भाग्य के भरोसे नहीं रहती। सिर पीटकर रोना नहीं जानती। उनकी नारी संघर्षशील है। इरोम से प्रेरित है। कवयित्री लिखती है—

“इस घोर अमानवीय समय में तुम
लड़ रही हो लड़ाई मानवता की
लड़ाई अपने अधिकारों की
लड़ाई अपनों के अधिकारों की
जो चाहते हैं एक नज़र उन अति छोरों की ओर
जहाँ की आवाज़ नहीं पहुँच पाती धुरी तक”

(पृ. 111)

“काश! होती एक सीढ़ी ऐसी भी
जिस पर चढ़कर मैं खिसका सकती
सूरज को थोड़ा और बाईं ओर
ताकि ठंडी पड़ चुकी उम्मीदों में
एक बार फिर तपिश आ जाए।”

हिंदी की सुपरिचित युवा कवयित्री और कहानी लेखक ज्योति चावला की उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों से गुजरकर प्रसन्नता होती है, भरोसा जगता है। हिन्दी की तमाम प्रसिद्ध पत्रिकाओं के माध्यम से ज्योति ने अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज़ कराई है। उनकी कविताएँ तथा कहानियाँ न केवल नियमित रूप से प्रकाशित हो रही हैं बल्कि साहित्यानुरागियों ने उनकी रचनाशीलता की चर्चा की है, प्रशंसा की है। हाल ही में ज्योति चावला का कविता-संग्रह ‘माँ का जवान चेहरा’ छप कर आया है। संग्रह की कुल 58 कविताओं के पाठ करने के पश्चात् इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि ज्योति की कविता आत्मानुभव से उपजती है और उसमें उनका समय और समाज अपनी समग्रता के साथ मौजूद रहते हैं। एक बात और, उनकी कविताओं में वैविध्य है। यह विविधता अंतर्वस्तु संबंधी है तो शिल्प संबंधी भी। अर्थात्, ज्योति चावला की कविताओं की बनावट और बुनावट ने उन्हें अपनी पीढ़ी के रचनाकारों से अलग स्थान प्रदान किया है। उनकी कविताओं की ‘कहन’ प्रभावशाली है। अभिव्यक्ति का ढंग इतना रोचक है कि वह तत्काल पहचान बना लेता है। इसलिए पिछले कुछ वर्षों में जिन युवा कवियों ने समकालीन कविता के परिदृश्य को व्यापकता प्रदान की है, मानवीय गरिमा दी है उनमें ज्योति चावला का नाम महत्त्वपूर्ण है। संग्रह की कविताओं से यह भी अहसास होता है कि इस कवयित्री ने अपनी राह खुद बनाई है। अपने मुहावरे स्वयं निर्मित किये हैं। यह इसकी सामर्थ्य है। कवि-आलोचक विजय कुमार ने लिखा है—“इन कविताओं में घटित की तफसीलें और वृत्तांत तो है ही, पर शायद उससे भी कुछ ज्यादा और मूल्यवान है, ऐसा कुछ जो संवेदना की अनुगूँज को रचता है। ज्योति चावला की यही सबसे बड़ी खूबी है। उन्होंने ओझल, अनदेखे, निर्वाक, संसार की मार्मिक वेदना के साथ बहुत सहज ढंग से एक इंटेस, कोमल और आकुलता से भरा अपना रिश्ता बनाया है। अपने स्वर की मौलिकता और सादगी के लिए हिन्दी संसार में इन कविताओं का निस्संदेह स्वागत किया जायेगा।”

भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने लोगों को भरमाया है, दिग्भ्रमित किया है। झूठे दावे पेश किये हैं। पूरी दुनिया को कब्जे में कर लिया है। मनुष्य के नाते-रिश्तों को भी एक मात्र मूल्य—बाजार मूल्य में बदल दिया है। उसकी भावनाओं और संवेदनाओं तक को पेटेंट बनाने का प्रयास किया है। खुशी की बात है कि युवा पीढ़ी के रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में इस मनुष्य विरोधी प्रवृत्ति का विरोध किया है। ज्योति चावला ने भी इसका प्रतिरोध किया है। हाँ, यह प्रतिरोध सृजनशीलता से ओत-प्रोत है। महज

नारेबाजी में कवयित्री का कोई विश्वास नहीं है। उसकी कविताओं में संबंधों की उष्मा है। यह वह तत्त्व है जिसे बाजार सम्पर्क में तब्दील कर देना चाहता है। आज का समय संवादहीनता का है, संबंधहीनता का है। ऐसी स्थिति में ज्योति संबंधों की प्रगाढ़ता को केंद्रित करते हुए अनेक कविताएँ लिखती हैं। उनके यहाँ संबंधों की कद्र है। संबंधों में वैविध्य है। माता-पिता, पिता-पुत्री, माता-पुत्री, प्रेमी-युगल, पति-पत्नी आदि के निर्मल, निस्वार्थ संबंधों का चित्रण है। साथ ही नानी, चाची, सहेली, फुटपाथ के बच्चे, समाज के लोग, मासूम चेहरे और भी जाने-अनजाने लोगों से मानवीय संबंधों का प्रसार है। व्यापक संवेदनाओं का चित्रण है। परिवार से वसुधा की यात्रा है। ज्योति इन मानवीय गुणों को हथियार के रूप में ग्रहण करती है और पूँजीवादी, साम्राज्यवादी ताकतों के छल-प्रपंचों को मानों जबाव देती है। अत: कहा जा सकता है कि ज्योति की कविता घर से आगे समाज, देश और दुनिया तक जाती है।

माँ, माँ होती है, सिर्फ माँ। दुनिया के तमाम नाते-रिश्तों से अतुलनीय होती है। ज्योति चावला ने माँ से संबंधित कई कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ बहुआयामी हैं। विविध स्तर की भी हैं, स्तर से आशय है—कवयित्री की माँ और स्वयं कवयित्री का मातृत्व को प्राप्त करना। माँ का हृदय हिमालय से भी ऊँचा होता है और महासागर से भी गहरा। वह स्वयं भले रीता हो जाए पर, दूसरों को भरती चली जाती है। दूसरों को भरकर अपने को पूर्ण पाती है। कविता-संग्रह का नाम भी है 'माँ का जवान चेहरा' जिसे कवयित्री अपनी स्मृतियों की दुनिया को खंगाल कर एक बार देखना चाहती है। पर वैसा हो नहीं पाता है। उसकी तीव्र इच्छा है—''माँ को माँ होने से पहले देखना एक बार''। लेकिन, माँ का यह रूप सदा दिखाई पड़ता है—

''माँ मुझे दिखी है हमेशा वैसी हो
जैसी होती है माँ
सफेद बाल और धुंधली आँखें
बच्चों की चिंता में डूबी।''

(पृ. 35)

इसी तरह की एक मार्मिक कविता है 'पिता के जाने पर'। माता-पिता के मुहावरे को पूरा करने के लिए तथा एक संपूर्णता के लिए पिता की परम आवश्यकता है—

''होते पिता तो होता एक कंधा माँ के लिए भी
पिता किसी परिवार के लिए केवल एक पुरुषवाची संज्ञा ही नहीं
बल्कि एक संपूर्णता है।''

(पृ. 48)

उल्लेख किया जा सकता है कि ज्योति चावला ने माँ पर कई कविताएँ लिखी हैं। 'इन दिनों' सिरीज की पाँच कविताएँ तो माँ से संबंधित विभिन्न भावबोध की हैं ही, 'समझदारी की दुनिया में माँएँ मूर्ख होती हैं, 'मेरा चाँद से शायद कोई पुराना रिश्ता है', 'उसके सपने कहीं बे-रंग तो नहीं', 'पन्ना धाय तुम कैसी माँ थी' आदि कविताओं में कवयित्री ने मातृ-

हृदय की काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उल्लिखित कविताओं के अलावा अन्य में भी माँ की ममता के शब्द-चित्र अंकित हुए हैं। सच है कि ये कविताएँ स्मृति पर आधारित हैं। लेकिन कवयित्री को पता है कि स्मृतियाँ कविता नहीं होतीं। उन स्मृतियों को गहरे भावावेग में ढालकर, संवेदनाओं से पगने के बाद रिश्ते को पूरी सहजता के साथ अभिव्यक्त किया है। इससे ये कविताएँ एकदम सटीक और विशेष अर्थ-व्यंजन वन जाती हैं। रिश्तों के अटूट जुड़ाव को शायद ही कवयित्री के किसी समकालीन ने माँ-केंद्रित इतनी संख्या में और इतने भावव्यंजक रूप में आज तक कविताएँ लिखी हैं। यह ज्योति चावला का निजी वैशिष्ट्य है। विस्तार भय की आशंका से केवल निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

''इन दिनों हँसती है वह तो मुस्कराती हूँ मैं
रोती है वह तो मैं सिहर जाती हूँ
वह मेरी नन्हीं सी परी मेरे सीने से लग, उसमें सिमट
मुझे हर पल मेरी पूर्णता का अहसास कराती हैं।''

(पृ. 77)

ज्योति चावला ने 'स्त्री-विमर्श' संबंधी कई कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने फैशन के चलते ये कविताएँ नहीं लिखी हैं। उनके विमर्श में देह-यष्टि का महत्त्व नहीं है। स्वयं स्त्री हैं और संवेदनशीलता से परिपूर्ण भी। उनके यहाँ 'रेडिकल फेमिनिज्म' का हल्ला-बोल भी नहीं है। स्त्री-स्वर संयत है और पारस्परिक साहचर्य पर आधारित है। ज्योति की नारी स्वतंत्रता की कामना करती है। उसे अस्मिताबोध भी है लेकिन—

''वह औरत कल्पना कर सकती है
संसार के बीच अपनी अस्मिता की
पर इस दृश्य में उपस्थित
संवारना है घर का कोना-कोना।''

(पृ. 104)

कवयित्री की स्त्री संघर्ष करना जानती है। टूटने, बिखरने, हारने में उसका विश्वास नहीं है। वह तो नित नवसृजन में तल्लीन रहती है—

''तुम स्त्री हो और स्त्रियाँ हारती नहीं
वे टूटती नहीं, न बिखरती हैं
वे होती हैं तो मौसम खिलते हैं
वे बढ़ती हैं खारे पानी में भी।''

(पृ. 94)

इस संदर्भ में 'राधिका के लिए', 'तुम्हारी आँखें हमें सुकून देती हैं इरोम' आदि कविताओं का पाठ किया जा सकता है। 'कच्ची उम्र की लड़कियाँ' शीर्षक कविता में नारी-शरीर को पण्य-वस्तु की तरह बेचने को लेकर चिंता जाहिर हुई है। वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने इन्हीं कविताओं के आधार पर लिखा है—

"स्त्री-विमर्श की अनेक कविताओं के बावजूद इस हाशिये में स्त्रियों के साथ भी सामान्य जन हैं, किसान हैं जो नई अर्थव्यवस्था और बाज़ार के चलते आत्महत्याएँ कर रहे हैं, कड़कती सर्दी में फुटपाथ पर सोते वे लोग भी हैं जिन्हें विकास की आड़ में लगातार निर्वासित किया जा रहा है। इस अर्थ में ये एक व्याकुल, प्रश्नाकुल युवा कवयित्री की कविताएँ हैं।"

'दयाराम' शीर्षक कविता 12 जुलाई 2009 को हुई मेट्रो दुर्घटना में मारे गये मजदूरों के लिए लिखी गई थी। 'सच' कविता में मामूली आदमी की व्यथा-कथा अंकित है—"बचा लेना चाहता है थोड़ी-सी उम्मीद/ताकि जिंदा रह सकें सपने...." (पृ. 19) फुटपाथ पर जिंदगी गुजारने वालों को मनचले गाड़ी वाले के पहियों में दब जाना पड़ता है। इनकी तादाद कम नहीं है। इनकी नियति है—"रौंदी जा रही है रोज गिने-चुने पहियों से।"

(पृ. 34)

'कितनी दूर है दिल्ली', 'वह लौटता है तो लौट जाती हैं सारी उम्मीदें', आदि कविताओं में मार्मिक चित्रण है। एक उदाहरण—

"पर इनका यह हिलना/नहीं होता इतिहास में दर्ज
सदियों से नहीं पड़ी समाज की इन पर नज़र"

(पृ. 42)

आगे चलकर उस पार की दुनिया के रहने वाले प्रतिरोध की आवाज उठाते हैं—

"लेकिन ये नंगे सच, खाली पेट
और सूनी आँखें उठा रहे हैं हथियार
शहर से बाहर, शहर के खिलाफ़।"

(पृ. 52)

उल्लेख किया जा चुका है कि बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था ने मनुष्य तक को जिन्स बनाकर बेचने की साजिशें बना रखी हैं। बाज़ार उसके साथ है। बाजार की ताकत अपरंपार है। समाज के मूलाधार होते हैं बूढ़े—बुजुर्ग, परंतु, बाज़ार की दृष्टि में वे आज अनफिट हैं। ज्योति के शब्दों में—

"आज जहाँ बिग बाज़ार शॉपिंग मॉल
पुरानी रद्दी के बदले शॉपिंग के नए लुभावने
ऑफ़र दे रहा है, वहाँ से बूढ़े
और भी गैर-जरूरी मालूम पड़ते हैं।"

(पृ. 67)

कवयित्री ने अपने समय की विद्रूपताओं और विसंगतियों को भी पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया है। सामाजिक चेतना में समसामयिक सामाजिक यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। उनका यथार्थ केवल आम आदमी के अभाव का यथार्थ चित्रण नहीं करता

बल्कि समय के तनाव, खींचतान, राजनीति, धोखा, मूल्यहीनता, आर्थिक विपन्नता और आर्थिक वैषम्य, आदि को भी रूपायित करता है।

महज सूचना कविता नहीं होती। ज्योति चावला यह भली-भाँति जानती हैं। सहज, सरल, बिना लाग लपेट के कविता कह देना और उससे पाठक को सोचने के लिए विवश कर देना कवि की बड़ी ताकत होती है। कुछ बिंब, कुछ प्रतीक व्यंजनाएँ कभी-कभार आ जाएँ तो उसका और भी महत्त्व बढ़ जाता है। पाठक के दिलोदिमाग को झकझोर देने वाली कविता का सर्वाधिक महत्त्व होता है। कवयित्री की 'संबंध' कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"वे कर रहे हैं तैयार पूरी एक पीढ़ी जो
जी सकता है मिट्टी के ढेले पर भी
जिन्हें पानी के नाम पर नहीं मिल पाते
अब पेट भर आँसू भी।"

(पृ. 84)

ज्योति की कविताओं से गुज़रकर पता चलता है कि पेड़ केवल पेड़ नहीं होते। पेड़ हमारे पुरखे हैं—"बूढ़े दादा और दादी की तरह।" जाहिर है, कि दादा-दादी कभी नहीं घुड़कते, सिर्फ प्यार करते हैं। 'एक जामुन का पेड़' कविता को इसी रूप में पढ़ा जा सकता है। पेड़ हमारी परंपरा, मूल्य, पहचान के भी प्रतीक हैं। पर्यावरण के संकट-काल में इस कविता की अर्थवत्ता कुछ और ही बनती है। इसी प्रकार, 'भीड़ देख रही है' शीर्षक कविता का पाठ सत्ता-विमर्श के आधार पर भी किया जा सकता है।

सिर्फ विद्रोह और क्रांतिकारी कविताएँ महान् नहीं होती हैं। प्रेमपरक कविताएँ भी कालजयी बनती हैं। ज्योति की कई प्रेम कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। वे सिर्फ ज्योति ही लिख सकती हैं। उनके लिए प्रेम एक एहसास है, अनुभूत सत्य। उसका स्वरूप विलक्षण है। उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। लैला-मजनूँ, शिरी-फरहाद से भी नहीं। सबसे बड़ी बात है कि प्रेमहीन दुनिया में कवयित्री का अपने प्रेम पर दृढ़ विश्वास है। अविश्वास भरे माहौल में ये पंक्तियाँ आस्था जगाती हैं—

"तुम मुझमें और मैं तुममें उतने ही हैं
जितना बाकी है समुद्र में नमक
जितना बाकी है सृष्टि में जीवन।"

(पृ. 102)

कवयित्री की प्रेम-भावना में शरीर, रूप आदि वर्ज्य नहीं है लेकिन इनका बहुत अधिक महत्त्व भी नहीं है। मन का मिलन ही प्रेम है। ज्योति के शब्दों में—

"यह भाषा ही तो है जो दो दिलों के बीच
निरंतर वह रही है और हर किनारे को छू
एक नया अर्थ देती हैं।"

(पृ. 103)

ज्योति चावला ने वेश्याओं पर भी कविता लिखी है—'भय का एक कोना' तो फुटपाथ के, सड़क पर खेलते नंग-धडंग, मैले-कुचैले बच्चों को आधार बनाकर भी कविता लिखी है। भूखे किसान, मजदूर आदि भी उनकी कविता में शामिल हैं। राजेश जोशी ने लिखा है—"ज्योति चावला की ये कविताएँ हमारे समाज के हाशियों और सुदूर हाशियों पर रह रहे और अपने हक की लड़ाई लड़ रहे लोगों की कविताएँ हैं। हाशिये की आवाज़ केंद्र को पुकारती है और बार-बार फौलादी दीवारों से टकराकर लौटती है। यह कविता उस पुकारती और लौटती आवाज का पीछा करती है।" संक्षेप में, ज्योति चावला एक संवेदनशील जागरूक कवयित्री हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' में लिखा था कि यदि मनुष्य मुख्य घटनाएँ भूल जाए, परिवार और समाज के लोगों से अपने संबंध भूल जाएँ तो उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाएगा। कहना न होगा कि ज्योति को अपने व्यक्तित्व का बोध स्मृति के सहारे होता है। 'पुराने घर का वह पुराना कमरा' शीर्षक लंबी कविता पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कवयित्री ने मेरे गाँव की स्मृतियों को तरोताजा कर दिया है। उन आत्मीय संबंधों की प्रगाढ़ता के इलाके में पहुँचा दिया है। वह न केवल अपनी बात कह रही है बल्कि जीवन में प्रतिष्ठित होने की उम्मीद पालकर तमाम महानगरीय जीवन गुज़ारने वालों के मनोराज्य में प्रवेश कर उनके भावों को अभिव्यक्त कर रही हैं। आज भी ज्योति चावला के शब्द गूँज रहे हैं, हमारा पीछा कर रहे हैं और तब तक अनुधावन करते रहेंगे जब तक कि हममें थोड़ी-सी संवेदना बची रहेगी—

"वे बर्तन, वे संदूक, पिता के वे जूते
हमें कहीं से पुकार रहे हैं।"

(पृ. 31)

और अंत में, ज्योति की कविताओं में दाखिल होकर हम महसूस कर सकेंगे कि ऐसी आत्मीयता, ऐसी सहजता, ऐसी आश्वस्ति एवं ऐसा अपनापन भला और कहाँ है। कहा जा सकता है कि हरीशचंद्र पांडे, प्रतापराव कदम और ज्योति चावला की कविताओं से गुज़र कर समकालीन कविता के वैविध्य को समझा जा सकता है। इन कवियों की रचनाओं में समकाल की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संदर्भों के चित्र अंकित हुए हैं।

❑❑❑

सबसे खतरनाक है आदमी का चेहरा खत्म कर देना

श्रीप्रकाश मिश्र हिंदी की दुनिया में एक जाना-पहचाना नाम है। मिजोरम की पृष्ठभूमि में लिखित 'जहाँ बाँस फूलते हैं' और खासी पर्वत को आधार बनाकर लिखा गया 'रूप तिल्ली की कथा' उपन्यासों को पाठकों ने खूब सराहा है। आलोचकों ने विशिष्ट उपन्यासकार के रूप में पहचाना। लेकिन, बहुत कम लोग जानते हैं कि श्री प्रकाश मिश्र कवि भी हैं। उनके तीन कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'मौन पर शब्द' (1987), 'शब्द के बारीक तारों से' (2009) और 'शब्द संभावनाएँ हैं' (2012)। उपन्यास और कविता के अलावा श्रीप्रकाश ने आलोचना और अनुवाद के क्षेत्रों में भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है।

श्रीप्रकाश मिश्र ने पूर्वोत्तर के आठों राज्य कश्मीर, उत्तराखंड, गुजरात, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बंगलादेश, भूटान आदि से प्रत्यक्ष संबंध रहा है। इन प्रांतों और देशों में रह चुके हैं। अत: पर्याप्त अनुभव के धनी हैं। कई भाषाओं की जानकारी रखते हैं जिससे उनका भाषाओं के प्रति प्रेम जाहिर होता है। इनका उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि श्रीप्रकाश की कविताओं का निर्माण उपर्युक्त तत्त्वों से हुआ है। उनकी कविताओं में जनपदीय बोलियों के शब्द अनायास आते रहते हैं तो अन्य भाषाओं के शब्द भी घुले-मिले पाये जाते हैं। इसलिए, श्रीप्रकाश मिश्र अपनी पीढ़ी के कवियों से बिल्कुल भिन्न हैं, जल्द पहचाने जाते हैं। यह उनका वैशिष्ट्य है।

1970 से 2005 की अवधि में लिखी गई 69 कविताओं का संकलन है 'शब्द संभावनाएँ हैं'। इस कालावधि में भारत ही नहीं, पूरी दुनिया में सर्वाधिक उथल-पुथल मची, तमाम परिवर्तन हुए। वैश्विक परिदृश्य का कायांतरण हुआ। देखना यह है कि उनकी प्रतिध्वनि श्रीप्रकाश की कविताओं में सुनाई पड़ती भी है या नहीं।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक हलचलों और उथल-पुथलों से कवि कहाँ तक प्रभावित हुआ है? हालाँकि कविता की परख केवल इन्हीं मानदंडों पर नहीं होनी चाहिए। कविता में कथ्य और शिल्प का अपूर्व समन्वय हो तो वह कालांकित होते हुए भी कालातीत होती है। अकेले कथ्य अथवा निरे शिल्प के आधार पर निर्मित कविता की आयु बहुत अधिक नहीं होती है।

'हम क्या करें' शीर्षक कविता बिना पहाड़ में रचे-बसे केवल कल्पना के पंख फड़फड़ाकर नहीं लिखी जा सकती है। इस कविता में प्रकृति ऐसे घुल-मिल गई है कि बिना पार्वत्य अंचल के, अनुभव के ऐसा संभव नहीं हो सकता है। कविता की निम्नलिखित पंक्तियों पर पाठक की नज़र ठिठक कर रह जाती है—

"इस मन्वंतर की
सारी हड्डियाँ बीन लाएँ
और दूरस्थ सितारों की
ठंडी आँच में पकायें।"

(पृ. 9)

कवि ने हृदय की पुकार को 'आत्मा की आवाज' शीर्षक कविता में व्यंजित किया है। यह एक प्रेम की कविता है जो चार भागों में विभाजित है। कहना न होगा कि इस कविता में प्रेम के चार प्रकार के स्वरूपों का अंकन हुआ है। शीत प्रदेश में धूप मीठी होती है, प्यारी लगती है। इसलिए कवि 'तुम' को धूप कहती है। लेकिन 'तुम' और 'धूप' में थोड़ा फर्क भी होता है। 'तुम' 'तुम' ही रहती है, अद्वितीय। अतुलनीय। कवि कहता है—

"तुममें और धूप में
अंतर इतना
वह जलाकर चुक जाती है
तुम जलाकर ठंड देती हो।"

(पृ. 11)

'बच्चा' शीर्षक कविता में श्रीप्रकाश ने बच्चों के सपनों, उनकी उलझनों, उनकी परेशानियों और तीसरी दुनिया के बच्चों की दयनीय स्थितियों का बड़ा बिंबात्मक चित्रण किया है। इस कविता के पाँच खंड हैं। पाँच खंड चित्र हैं जो कोलाज की तरह लगते हैं। एक ओर कवि ने बच्चों पर हो रहे निर्यातन और उनकी बेबसी को चित्रित किया है तो दूसरी ओर कॉमोडिटी की तरह बिकने वाले बच्चों की शोचनीय स्थिति को उकेरा है—

(क) *"फिर भी तुम्हारे हाथ नहीं उठते*
पाँव नहीं अड़ते
सिर नहीं खपते
निरंतर पड़ रही चाबुक के प्रतिकार में।" (पृ. 21)

(ख) *"ये बच्चे खेलते नहीं*
इनके साथ कोई खेलता है।" (पृ. 26)

इस कविता में कवि का सामाजिक सरोकार साफ झलकता है। आर्थिक वैषम्य और वर्ग-वैषम्य को कवि ने शब्दों की मितव्ययिता के माध्यम से उद्घाटित किया है। ऐसी विषय वस्तु पर आधारित कविताओं में कवि की व्यंग्य और चुटीली भाषा का प्रयोग होता है। मसलन, 'आम आदमी से खास आदमी तक'। आज 'आम आदमी' का नारा खूब जोर-

शोर से प्रचारित हो रहा है। 'आम आदमी' के कल्याण के लिए, उसकी प्रगति और उन्नति के लिए खास आदमी चिंतित होने का नाटक खेलता रहता है। इधर तो आम आदमी के नाम पर राजनीतिक पार्टी का गठन हो चुका है। कवि ने 'आम आदमी की बात आज से 30-32 वर्ष पहले की थी। जो भी 'आम आदमी' की बात करता है वह कुछ दिनों में ही 'खास आदमी' बन जाता है—

"और 'वे'
अपने घरों में आश्वस्त होकर
सोते हैं
कि आम आदमी की बात करने वाला
अब उनका खास आदमी है।" (पृ. 16)

श्रीप्रकाश की लगभग एक दर्जन लंबी कविताएँ हैं। इन कविताओं में कवि ने अपने भावों और विचारों को कहीं भी बिखरने नहीं दिया है बल्कि उन्हें समन्वित किया है। 'बच्चा', 'सियार', 'जूता', 'पनियायी हुई आँखों की आग', 'फूल', 'अकेली औरत', 'लाठी बाजार' आदि कविताएँ पढ़ी जा सकती हैं। इन कविताओं में भावों की मौलिकता और अभिव्यक्ति की सार्थकता, संप्रेषणीयता मौजूद है। 'चेहरे के खिलाफ', एक 'शीर्षक कविता में सहज संप्रेषणीयता पाई जाती है—

"और हमेशा ही। कितना निकट होता है/अपना चेहरा खोज पाना
प्याज की पर्तहीन गाँठ की तरह।" (पृ. 65)

'जूता' शीर्षक कविता में कवि ने दृश्यबिंब उपस्थित किया है—

"वह जूते बहुत संभाल कर रखता है।
इतना संभाल कर रखता है
कि कंधे पर धरी लाठी में
टाँग कर चलता है।" (पृ. 44)

'सियार' शीर्षक प्रतीकात्मक कविता में श्रीप्रकाश ने सियारों के आने की घोषणा मात्र से उत्पन्न दहशत भरे वातावरण का चित्रण किया है—

"जबसे घोषणा हुई है
सरकारी संचार माध्यमों पर
हँसी ने अपनी भूमिका निभाना
बंद कर दिया है।
सर्वत्र
हवा में उनकी गंध व्याप्त है।" (पृ. 39)

रचनाकार अपने समय और समाज के प्रभावों से अछूता नहीं रह पाता है। वह युगीन यथार्थ का चित्र रूपायित करता है। 'अँधेर नगरी', 'अंधायुग', 'अँधेरे में' 'अँधेरे बंद कमरे', आदि में अँधकार के सघन चित्र अंकित हुए हैं। युग में व्याप्त अँधकार से मुक्ति का प्रयास करते हुए कवि ने खिड़कियाँ खोलीं तो बाहर व्यापक 'दमघोंटू धुआँ' कमरे में भर गया—

''अँधेरे से बचने के लिए
मैंने खिड़कियाँ खोलीं
कि बाहर का दमघोंटू धुआँ
कमरे में भर गया।''

(पृ. 59)

मुक्तिबोध ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' लिखा था—''अब तक क्या किया/जीवन क्या जिया?'' उनसे प्रभावित होकर श्रीप्रकाश लिखते हैं—

''अब तक क्या किया है?
और मेरा अंतस जवाब देता है,
जिया है
सिर्फ जिया है।''

(पृ. 59)

आज की दुनिया में जिंदा भर रहना कोई मामूली बात नहीं है। चारों ओर हिंसा, दहशत, आगजनी, मार-काट और विध्वंसकारी लीलाएँ व्याप्त हैं। ऐसे में सिर्फ जिंदा रहना कम उपलब्धि नहीं है।

एक छोटी-सी कविता संगृहीत हुई है 'बैल', इस कविता की पहली पंक्ति है—'मैं जब भी देखता हूँ, बैल', अंतिम पंक्ति है—'जब मैं बैल देखता हूँ।' दरअसल, बैल को देखना सिर्फ देखना नहीं है। अपनी परंपरा को याद करना है। अतीत में जाकर उसके सुनहरे पलों को वर्तमान में लाना और भविष्य को सँवारना भी है। अतीतजीवी होना नहीं है। बैल को देखना यानी किसान-सभ्यता और संस्कृति, पुराण-कथा में बैल की स्थिति आदि में फिर से स्मरण करना भी है। नगरीकरण के दौर में साहित्य से गाँव लगभग विस्मृत होता जा रहा है। इस दृष्टि से ऐसी कविताएँ स्वागत योग्य हैं।

श्रीप्रकाश की कविताओं से गुजरकर अहसास होता है कि कवि की छोटी कविताओं में भेदन-शक्ति अधिक है जबकि लंबी कविताओं में विचारों का प्रवाह।

'हमारे समय में' कविता कवि के समय के साहित्यिक परिदृश्य को उजागर करती है। साथ ही, कविता के लिए सपने, समय की आवश्यकता को चित्रित करती है। कवि कहता है—

''समय कविता नहीं होता
कविता समय के पार होती है''

(पृ. 130)

इराक पर लिखी दो कविताएँ कवि की जागरूकता का प्रतीक हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए कवि ने लिखा है—

''जब भी मरता है कोई तानाशाह
छोड़ जाता है अपना जूता
अगले तानाशाह के लिए।''

(पृ. 125)

'हत्यारे के बारे में कविता', 'पेड़', 'शब्द', 'अकेली औरत', 'इस प्रजातंत्र में', 'चेहरे के खिलाफ' जैसी कविताओं से कवि की कविताई और सामर्थ्य का पता चलता है। हाँ, यह भी प्रतीत होता है कि कवि अपनी कविता की कला के प्रति जागरूक है। कहीं-कहीं अत्यधिक जागरूकता भी दिखाई पड़ती है। इससे कविता की संप्रेषणीयता बाधित होती है। पाश ने कहा था 'सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।' श्री प्रकाश लिखते हैं—

''लेकिन सबसे खतरनाक है
आदमी का चेहरा खत्म कर देना''

(पृ. 56)

कहना न होगा कि आदमी के चेहरे से सबसे अधिक खतरा है एकाधिकारवादी को, तानाशाही को। बचा रहेगा आदमी तो बची रहेगी उसकी कौम। बची रहेगी कविता। तानाशाही का विरोध करने की सामर्थ्य केवल आदमी में होती है अथवा कविता में।

श्रीप्रकाश की कविताओं में शोषण का विरोध है। अराजकता का प्रतिरोध है। व्यवस्था के प्रति व्यंग्य है। उनकी अधिकांश कविताओं में समय और समाज बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित हुए हैं। विचारों का प्रवाह है। कला के प्रति आग्रह भी है। यह आग्रह जितना कम होगा कविता उतनी चमत्कृत करेगी। कला हो पर सायास नहीं, अनायास हो।

□□□

सत्य वही है जिसका हम आविष्कार करें

कुमार सुरेश की कविताएँ हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती आ रही हैं। कवि की 63 कविताओं का संकलन हैं 'भाषा साँस लेती है।' इस कविता-संग्रह के दो खंड हैं—'गर्म और रोशन आग के लिए' और 'महारास'। इधर के कविता-संग्रहों में ऐसे विभाजन नहीं दिखाई पड़ते। हालाँकि कविताओं की अंतर्वस्तु के आधार पर यह विभाजन सही प्रतीत होता है।

'भाषा साँस लेती है' की कविताओं से गुजरने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि यह कवि अपने भावों की प्रस्तुति में औरों से भिन्न है। इन कविताओं में विगत दो दशकों के हलचल से भरे समय और समाज की पड़ताल की गई है तो मानवीय संवेदना की गहन अनुभूति और मानवता के सरोकारों का चित्रण किया गया है।

'चिमटा-सूप-सरौता नदारद' एक उत्कृष्ट कविता है। इसमें कवि ने अपने समय और परिवेश को शब्दों में रूपायित करने का प्रयास किया है। कवि ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बाज़ार के मार्फ़त समय के सच को प्रस्तुत किया है। 'बिग बाज़ार' और 'मॉलों' के जमाने में सब कुछ विकाऊ है। प्रॉडक्ट के सामने मानवता या मानव मूल्य का कोई महत्त्व नहीं है। बहु-राष्ट्रीय कंपनियों ने विज्ञापन का माया-जाल ऐसा बिछाया है कि व्यक्ति अप्रयोजनीय वस्तुएँ भी लाकर घर में ठूँसे जा रहा है। कवि ने 'तब के और अब के' बाज़ार में निहित मूलभूत अंतर को भी बड़ी बारीकी से दिखाया है। हँसिया, कुदाली, फावड़ा, सरौता, बाँस की डलिया, सूप, बेलन, चिमटा, मिट्टी का घड़ा, घासलेट का आज के बाज़ार में न होना बहुत बड़ी चिंता है। सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन बड़ी तेजी से प्रभावित हो रहे हैं। कस्बे का बाज़ार सिर्फ़ वह स्थान नहीं था जहाँ वस्तुएँ खरीदी बेची जाती हैं। कवि के लिए यह बाज़ार मानव-जीवन का केंद्र भी है—"एक अदद मनुष्य होना भी बचा रहता है।" आज के बाज़ार में दम फूलता है। उसके चक्रव्यूह में मनुष्य कराहने लगता है। बाज़ार सबसे बड़ा दुश्मन साबित हो रहा है संवेदनाओं का या मनुष्यता का। इसलिए कवि कहता है—"अँधेरे ठंडे तहखाने में ही खत्म हुआ सफर/बाहर खुली हवा में आकर ली राहत की साँस।"

'हावड़ा ब्रिज पर कुछ देर' कविता में कुमार सुरेश ने जो बिंब प्रस्तुत किया है, वह मनोज्ञ है। यह कविता पाठक को सीधे हावड़ा ब्रिज पर पहुँचाने की पूरी सामर्थ्य रखती है। इसमें छः बिंब उकेरे गये हैं। इस कविता में एक ओर कवि की प्रतिबद्धता खुलती है तो उसकी संवेदना की व्यापकता भी स्पष्ट होती है। कविता में हावड़ा ब्रिज महज एक सेतु नहीं बल्कि इतिहास को आधुनिकता अमीर को गरीब, बंगाल को शेष भारत आदि से मिलाने वाले के रूप में खड़ा पाया, बाजारवादी और पूँजीवादी व्यवस्था में साहित्य, संस्कृति और कला के प्रति लोगों की रुचि घटती दिखाई पड़ रही है। खास करके, हिंदी की जातीय समस्या बनती जा रही कि साहित्य की किताबें और साहित्यिक पत्रिकाएँ खरीदी नहीं जा रही हैं। 'भेंट स्वरूप' मिल जाए तो उसे पढ़ते भी नहीं। दरअसल, साहित्य के प्रति वीतराग होना, नाटकों से मुँह मोड़ना, कला-प्रदर्शनियों में शिरकत न होना समय का गहरा संकट है। बाजार और पूँजी की सोची-समझी चाल है। साहित्य, कला और संस्कृति में प्रतिरोध होता है, विरोध भी। विवेक से काम करने की शक्ति निहित होती है। बाज़ार को विरोध, प्रतिरोध नापसंद है। बस, मुनाफा पसंद है। कुमार सुरेश ने 'बेवकूफी के शगल' शीर्षक कविता में चिंता प्रकट की है—"पार्टियों के लिए करते खर्च/फिल्मों के लिए भी/शराब पीते उम्दा/कपड़ों की पसंद लाजवाब"। अर्थात् बाज़ार के गिरफ्त में आ चुका है समाज। यह बड़ा सांस्कृतिक संकट है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन से हमारा कुटीर उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुआ। 'झाँईं' कविता में चमकाने का काम करने वाला आदमी अपना काम बंद कर देने को लाचार होता है। ऐसी बहुत-सी कलाएँ अब नहीं दिखाई देतीं। उसकी पीड़ा को कवि चित्रित करता है—"बदरंग को चमकाने वाले आदमी को/अब बच्चे नहीं पहचानते/कलई वाले की आँखों में अब/चमक नहीं/बदरंग बर्त्तनों की/झाँईं तैरती है।"

पूँजीपतियों या बाज़ार के मालिकों को कवि 'वे' के नाम से संदर्भित करता है। उनकी साजिशों का शिकार बनता है आम आदमी। उसकी भलाई इसमें है कि वह उनके बताये रास्ते पर चले। कवि कहता है—"उनके पास/उनकी जरूरतों का एक आईना है/उस आईने में हमारा अक्स है"। जरूरतें उनकी हैं। उन जरूरतों को हम संतुष्ट किये जाते हैं। ऐसे में अकेलापन काटने दौड़ता है। भोगवादी प्रवृत्ति पनपती है। कवि ने लिखा है—"हम अकेले और अकेले होते जा रहे हैं/अकेलेपन मिटाने के लिए/हमने घर को चीजों और चीजों से भर लिया।" ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि बाज़ार और पूँजी के चक्रव्यूह से कैसे छुटकारा मिले। दमघोंटू वातावरण से निजात पाने के क्या तरीके हैं? कुमार सुरेश ने एक उम्दा कविता लिखी है 'सुंदर और नर्म आग', आग फिर भी 'सुंदर और नर्म' की कल्पना। कवि इस आग की कामना करता है ताकि ठंड पड़ चुके मानवीय नाते-रिश्तों को फिर से उष्मा मिल सके। मृतप्राय मानव मूल्यों को फिर से जीवित किया जा सके। आहत सभ्यता के अँधेरे को दूर करने के लिए और उसके जख्मों को रोकने के लिए आग चाहिए। इसलिए कवि लिखता है—"मुझे कुछ आग तो दो/ताकि मैं थोड़ा आदमी बचा रह सकूँ।" परंतु विडंबना

है कि कवि की पुकार केवल बाज़ार सुनता है—''पुकार सुन केवल मेरे समय का बाज़ार/आया/गर्म और रोशन आग देने की जगह/सुंदर, नर्म आग बेचने लगा।'' कवि विपन्नावस्था में है। बाज़ार उसे बहुत तेजी से संपन्न होने की मरीचिका में भरमा रहा है। भटका रहा है। भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद से उत्पन्न संकट से वह अवगत है। इसलिए उनका प्रतिरोध करता है कि मानवीय संबंधों को बचाए रखने का भरपूर प्रयास हो सके। कवि की 'शेष बचा आदमी', 'मनुष्य रहता है नाम के पार', 'दुनिया को बचाने के लिए' जैसी कविताएँ उपर्युक्त भाव को पुष्ट करती हैं।

कुमार सुरेश की कविताओं से गुज़रते हुए कभी राजेश जोशी की कविता याद आती है तो कभी विनोदकुमार शुक्ल की, कभी अशोक वाजपेयी की कविताओं का स्मरण होता है तो कभी भगवत रावत का। इसका आशय यह है कि सुरेश अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की रचनाशीलता से परिचित है।

प्रसिद्ध लातीनी अमरीकी कवि निकानोर पार्श ने अपनी एक कविता में लिखा था—''कविता में हर बात की इजाजत है।/शर्त बस यही है/तुम्हें बेहतर बनाना है कोरे पन्ने को''। कवि चाहे किसी भी भाषा का क्यों न हो वह बेहतर बनाने के प्रयास में तल्लीन रहता है। कुमार सुरेश भी 'बेहतर की तलाश' करते हैं। उनकी खोज का माध्यम कविता है। सिर्फ माध्यम नहीं बल्कि उनके लिए कविता है—''चीजों के गिरते जाने के खिलाफ/लगातार एक जंग।''

कुमार सुरेश की कविताओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने 'कविता' की सामर्थ्य, उसके सरोकार आदि पर विचार किया है। कई कविताओं में मनुष्य और मनुष्यता की चिंता प्रकट करता है। लेकिन दोनों प्रकार की कविताओं में वह कविता और मानव के अटूट संबंध को उद्घाटित भी कर रहा होता है। कविता में 'स्वतंत्रता की झलक होती है। बंधन नहीं होता।' कविता में समझौता भी नहीं होता है। कवि कहता है—''सारी पशुता के बरक्स/कविता इंसान होने का सुकून है।'' 'बीजों और फूलों की बात', 'भाषा साँस लेती है', जैसी कविताओं को भी इसी रूप में, इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है।

सुरेश की कई कविताओं में कवि की प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है। यह कवि प्रतिबद्ध है अपने समय और समाज के प्रति। उसकी प्रतिबद्धता है 'इत्यादि' वर्ग के प्रति। 'कचरा बीनने वाला लड़का', 'रेस्तराँ में लड़की', 'गुमनाम लोग', 'मासूमियत' जैसी कविताएँ कवि की प्रतिबद्धता जाहिर करती हैं। इन कविताओं में कवि की संवेदना उभरकर आती है। मसलन, 'कचरा बीनने वाला लड़का' की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—''उसके सपने में भी कोई/मौसम नहीं आता/बारिश का पानी/कागज की कश्ती भी नहीं..../आता है अक्सर एक कचरे का पहाड़ ही'' कैसी विडंबना है कि लड़के के सपने में बस कचरा ही आता है। दरअसल, यह कचरा उसका कर्म, धर्म और उद्देश्य है। आजीविका का साधन भी है। इसी तरह 'माँ और शिशु' कविता की कुछ पंक्तियों में भी कवि की प्रतिबद्धता स्पष्ट होती

है—''नंगा, साँवला बच्चा/रमाये/पूरे शरीर पर/सीमेंट/लगता/भोला-शंकर-सा''। 'युवा होती बेटी, बूढ़ा होता पिता', 'महारास', 'देखना' आदि कविताओं की कविताई पाठकों को पसंद आयेगी। 'समयातीत पूर्ण' एक लंबी कविता है जिसमें मिथक के बहाने कवि ने अपने विचार को स्पष्ट किया है। नौ खंडों में विभाजित इस कविता में पूर्णपुरुष कृष्ण को संबोधित करते हुए कवि ने उन्हें 'परम क्रांतिकारी' कहा है—

''सत्य वह नहीं जो हमने सुनकर माना
सत्य वही है जिसको हम आविष्कार करें
हे परम क्रांतिकारी....
तुम अपने समय से कितने पहले
आए थे?
हे अग्रगामी!''

उम्मीद है कि कुमार सुरेश की आने वाली कविताएँ अपने समय से अग्रगामी बनेंगी। 'गुमनाम हुनरमंद लड़की' की तरह अर्थवान ढंग से जिंदा रहने के हुनर से परिचित करायेंगी। 'जिनकी साँसों में आराम नहीं था' लोगों' की आस्था को विश्वसनीय रूप प्रदान करेंगी। उनकी स्थितियों और तड़पनों को कवि चित्रित करेगा, ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

❑❑❑

मर-मर कर जीती है घास

आत्मारंजन हिंदी के युवा कवि हैं। देशभर की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं। 'पगडंडियाँ गवाह हैं' आत्मारंजन का पहला कविता संग्रह है। इनकी कविताओं में विभिन्न तेवर हैं और ये कविताएँ विविध रुचियों की भी हैं।

आत्मारंजन की कविताएँ व्यक्ति, परिवार, समाज और देश की अनेक स्थितियों को बयाँ करती हैं सहज ढंग से व्यंजना के साथ। अनुभवों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से होती है। समय की सच्चाइयों को कवि ने बड़ी सहजता के साथ अंकित किया है। यह कवि शिमला से है। अत: स्वाभाविक है कि उनकी कविताओं में पहाड़, बर्फ आदि के बिंब अंकित हुए हैं। भूमंडलीकरण के दौर में बाज़ार और उपभोक्तावादी संस्कृति के सच को भी कवि ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि कवि ने संबंधों की उष्मा को जीवित रखते हुए मानव और मानवता पर अगाध विश्वास प्रकट किया है।

'कंकड़ छाँटती' कविता में आत्मारंजन ने दाल छाँटने वाली एक स्त्री की तन्मयता, तल्लीनता, कर्मनिष्ठता, संवेदनशीलता को व्यापकत्व प्रदान किया है—''एक स्त्री का हाथ है यह/जीवन के समूचे स्वाद में से/कंकड़ बीनता हुआ।'' यह स्त्री भारतीय नारी का प्रतीक है जो अपने बारे में नहीं, दूसरों के बारे में सोचती है। अपनी सोच के मुताबिक काम करती है। उसे अपनी सुख-सुविधाओं, आराम आदि से कोई मतलब नहीं है। वह अपनों के लिए समर्पित है, दूसरों के लिए भी। स्वाद केवल दाल का नहीं बल्कि समूचे जीवन की भलाई, सुख-शांति के लिए भी नारी का हाथ महत्त्वपूर्ण है। युवा कवि का यह विचार भले ही पुराना प्रतीत होता हो परंतु अभिव्यक्ति का ढंग निराला है। अगली ही कविता 'हाँडी' में भी रिश्ते का जिक्र किया गया है। हाँडी सिर्फ हाँडी कहाँ होती है? उससे नारी का संबंध यानी आत्मीयों के साथ गहरा संबंध है। कवि का विचार है—''मैं जानना चाहता हूँ/हाँडी होने का अर्थ तान देती है जो खुद को लपटों पर/और जलने को/बदल देती है पकने में।'' (पृ. 11) कवि की नारी संवेदना से भरपूर कविता है 'औरत की आँच'। इसमें कवि ने आग्रह किया है कि 'नंगे जिस्मों में' औरत की आँच ढूँढ़ने वाले औरत की आंतरिक दुनिया और उसके अंतस्थल

की गहराई को देखें नहीं बल्कि समझें, क्योंकि ''औरत की आँच/पत्थर, मिट्टी, सिमेंट को सेंकती है/बनाती है उन्हें एक घर/उसकी आँच से प्रेरित होकर ही/चल रहा है यह अनात्म संसार।'' (पृ. 15) उस 'अनात्म संसार' को औरत ही सींचती आ रही है। सदियों से, युगों से। पगडंडियाँ गवाह हैं' कविता-संग्रह की एक खूबी यह है कि इसमें 'पृथ्वी पर लेटना' 'पत्थर चिनाई करने वाले', 'रंग पुताई करने वाले' जैसी लंबी कविताएँ हैं तो 'आधुनिक घर' 'शक्ति पूजा', 'रास्ता', 'सपना', 'हादसे', 'तमीज', तुम्हारे खिलाफ जैसी छोटे आकार की कविताएँ भी। आत्मारंजन ने लंबी कविताओं में भाव को बिखरने-छितरने नहीं दिया है तो छोटी कविताओं में भाव को साधे रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। छोटे आकार की कविताओं में कवि ने चंद शब्दों में बहुत अधिक कहने का प्रयास किया है। 'घर से दूर' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—''घर से जितनी दूर/निकल आते हैं हम/उतना ही याद आता है घर।'' (पृ. 80) यह 'घर' घर है, मकान नहीं। यह ईंट, बालू, सीमेंट, लोहा से निर्मित नहीं है। यह बना है प्रेम, विश्वास, भाईचारा, सौहार्द, संवेदना तथा तमाम मानवीय गुणों से। तभी घर-वापसी के लिए कराहता है कवि-हृदय।

जनकवि बाबा नागार्जुन ने कभी लिखा था—''जो न हो सके पूर्ण काम, उनको प्रणाम।'' आत्मारंजन बाबा के इस भाव को विस्तार देते हुए कहते हैं—''धूल चाटने वाला हो/ जानता है असल में/मिट्टी की महक/धरती का स्वाद'' (पृ. 22) समकालीन कविता की बड़ी खूबी है कि यह हमें निराश नहीं करती, उदासीन नहीं बनाती, हताशा से दूर रखते हुए संभावनाओं की अनंतता की ओर प्रेरित करती है। उन्हीं संभावनाओं में निहित 'अनन्य उर्वरता' को बनाए और बचाए रखें तो मानव जाति स्वस्थ तथा सुंदर बन सकती है। आत्मारंजन के उन्नत विचार को वहन करने वाली कविता है 'पृथ्वी पर लेटना'।

कवि की पक्षधरता भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कवि उन लोगों के साथ है जो पत्थर चिनाई करते हैं, रंग पुताई करते हैं या फिर श्रमजीवी हैं। कवि की कुछ कविताओं से गुजरकर ऐसा लगता है कि कवि ने मानो सहानुभूति प्रकट करने के लिए ऐसी कविताएँ नहीं लिखी हैं। यदि दूर से निहारकर इन्हें केंद्रित करके कविताएँ लिखी गई होतीं तो कविताएँ संप्रेषणीय अथवा चित्ताकर्षक कदापि नहीं बन पातीं। इन कविताओं में भाव, विचार और कला का सगुंफन हुआ है। हाँ, विवरणात्मकता भी कहीं-कहीं आ गई है। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने लोहा को देखा है तो पाश ने लोहा को खाया है और आत्मारंजन का पत्थर चिनाई करने वाला पत्थर खाता है—''पत्थर, चुनता है वह/पत्थर बुनता है/पत्थर तोड़ता है/तोड़ता है पत्थर/पत्थर कमाता है पत्थर खाता है।'' उसके हाथ पत्थर के हैं, पाँव भी पत्थर के ''रूह नहीं है पत्थर/पत्थरों के बीच रोता है वह/पत्थरों के बीच गुनगुनाता/एक-एक पत्थर को सौंपता अपनी रूह।'' (पृ. 26) कहा जा चुका है कि आत्मारंजन हिमाचल प्रदेश के शिमला से हैं। उन्होंने लोक-जीवन के कई खंड-चित्र प्रस्तुत किये हैं। दरअसल, कविता वही टिकाऊ होगी जो लोक से संपृक्त होगी। 'एक लोक वृक्ष के बारे में', 'पेड़ चोर', 'कोठी'

जुल्फिया रे', 'हिमपात', 'बर्फ पर चलता हुआ आदमी', 'नहीं सोचता बर्फ पर चलते' जैसी कविताओं में लोक-जीवन की सुंदर तस्वीरें उतारी गई हैं। मसलन, 'देवदोष' कविता में कवि ने लोक की आस्था का चित्रण किया है। दूरदराज पहाड़ी क्षेत्रों में आस्था यह है कि जब गाँव-देवता नाराज़ हो जाते हैं तो आधि-व्याधि होने लगती है। रोग फैलता है, बाढ़ आती है, भूकंप होता है, महामारी फैल जाती है। इसे देवदोष के नाम से जाना जाता है। देव-कोप से बचने के लिए ये लोग पशु बलि देते हैं 'अपने समूचे भोलेपन के साथ'।

कवि ने हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों में प्रचलित कृषि कार्यों को मिल-जुलकर करने की 'बुआरा प्रथा' को भी अपनी कविता में चित्रित किया है। इसमें सामूहिक गुड़ाई लोकवाद्यों की सुरताल के साथ संपन्न होती थी। जुल्फिया एक लोक गायन शैली है। अब बुआरा प्रथा और मुल्फिया दोनों लुप्त प्राय हैं। 'बोलो जुल्फिया रे' शीर्षक कविता में कवि ने जुल्फिया के विलुप्त होने पर लिखी है—''कहीं नहीं सुनाई देती/जुल्फिए की हूकती-गूँजती टेर'' (पृ. 42) यहाँ सवाल खड़ा किया जा सकता है कि इस लोक की विलुप्ति के लिए जिम्मेदार कौन है? जीवन की आपा-धापी? या फिर बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था? कहना न होगा कि बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था ने उपभोक्तावादी संस्कृति को फलने-फूलने दिया है। इसने मनुष्य को, मानवीय भावों को 'प्रॉडक्ट' बनाने की पुरजोर कोशिश की है। तभी तो समकालीन हिंदी के पुरोधा कवि केदारनाथ सिंह लिखते हैं—'यह बाज़ारों का समय है।' आत्मा रंजन 'इस बाज़ार समय में' लिखते हैं—''कमाल ही कमाल/इस बाज़ार समय में/सब लाजवाब/चकाचक, झकाझक।'' (पृ. 70) इस कविता के साथ 'स्मार्ट लोग', 'दुकानदार संदर्भ एक', मोहक छलिया अय्यार संदर्भ दो, 'तोल-मोल में माहिर संदर्भ तीन' जैसी कविताओं का पाठ तैयार किया जाये तो कवि के भावों की विविधता और विचार की सघनता का परिचय मिल सकता है।

आलोच्य कविता-संग्रह में बच्चों से संबंधित छह-सात कविताएँ हैं। ऐसा लगता है कवि ने बच्चों को करीब से देखा है, उनके बीच जीवन जीया है। उनकी विविध मनोवृत्तियों का अंकन तो किया है लेकिन उन्हें लेकर कवि की बड़ी चिंता भी है—''यह खुशी की नहीं, चिंता की बात है दोस्त/कि उम्र से पहले बड़े हो रहे हैं बच्चे।'' (पृ. 65) वैज्ञानिक विकास और प्रौद्योगिकी उन्नति के नाम पर बच्चों से उनका बचपन छूट जाए तो भला किस सहृदय को चिंता नहीं होगी? अत: कवि की चिंता पूरे मानव समाज के समक्ष एक गंभीर चुनौती है। मोबाइल से चिपके हुए पिता के साथ टहलने के बजाए घर पर वीडीओ गेम खेलने को अधिक पसंद करती है पुत्री। इसे कवि 'इस सदी का एक खतरनाक हादसा' समझता है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि कुछ किया जाये ताकि—''बना रहे यह/अंगुलियों का स्नेहिल स्पर्श/और जड़ होती सदी पर/यह नन्हीं स्निग्ध पकड़/कि इतनी ही नर्म उष्म/बची रहे यह पृथ्वी।'' (पृ. 67)

युवा कवि आत्मारंजन हमें उम्मीद बँधाते हैं। कहीं-कहीं काव्य-पंक्तियाँ स्टेटमेंट बन गई हैं। कुछ और माँजने की जरूरत थी। 'नहाते बच्चे', 'भगवान का रूप', 'नहीं सोचता बर्फ़ पर चलते', 'कारण' आदि कविताएँ भावों को संप्रेषणीय नहीं बना पाती हैं। युवा कवि हैं। आगे अपनी कला को माँज लेंगे, भावों को गूँथ लेंगे। यह अच्छी बात है कि कवि ने मन से लिखा है—''बहुत जरूरी होता है हमारा/ मानवीय होना।'' (पृ. 90) आज के भयावह समय में सबसे बड़ा संकट है अमानवीय होना। युवा कवि इस संकट से स्वयं जूझते हुए हमसे आग्रह कर रहा है कि तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद हम बनाए रखें उस मानवीयता को ताकि बची रहेगी मनुष्यता और बची रहेगी हमारी पृथ्वी।

□□□

समकालीन कविता के युवा स्वर

समकालीन हिंदी कविता में युवा कविता की खास पहचान बन चुकी है। इसने अपना एक निजपन स्थापित किया है। इसका संसार व्यापक है; सघन भी। उत्तर आधुनिक युग में जब 'इतिहास का अंत', 'विचार का अंत', 'साहित्य का अंत' आदि फतवे घोषित किए जा चुके हैं और कविता को 'मरती हुई विधा' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा हो, ऐसे दुस्समय में युवा कवियों और नवलेखकों की कविताओं से काफी उम्मीदें लगती हैं। मन आश्वस्त होता है। कविता होगी तो संवेदना बची रहेगी।

समकालीन कविता के युवा स्वर से परिचित होने के लिए यहाँ तीन कविता संग्रह हैं—तीनों एक ही पीढ़ी के कवि हैं। 'अंशुल त्रिपाठी (जन्म, 1975) का संग्रह 'आधी रात में देवसेना', प्रदीप जिलवाने (जन्म, 1978) का 'जहाँ भी हो जरा-सी संभावना' और गौरव सोलंकी (जन्म, 1986) का कविता-संग्रह 'सौ साल फिदा' में से अंतिम दोनों संग्रहों को भारतीय ज्ञानपीठ के नवलेखन पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। यह देखना दिलचस्प है कि एक ही समय के कवियों के कथ्य के बीज एक जैसे हैं अथवा भिन्न-भिन्न। तीनों रचनाकारों की बातों और अभिव्यक्तियों का ढंग एक जैसा है या रूप-रंग में खासा फर्क नजर आता है। क्या ये कवि अपनी बात से देश, काल, व्यक्ति, समाज, प्रकृति की बात कह पाते हैं? क्या इनकी कविताओं में समकालीन जीवन-स्थितियाँ अभिव्यक्त और विश्लेषित हो पाई हैं? क्या इन नवलेखकों के सपनों में कोई आधारभूत समानता है?

''मुझे उस रंगरेज से प्यार है, जो
सपनों को रंगता है''

—अंशुल

अंशुल की अस्सी कविताओं का संग्रह है 'आधी रात में देवसेना'। विषय-वैविध्य के साथ-साथ अभिव्यक्ति में अनूठापन है। युवावस्था में लिखी गई कविताओं में स्वाभाविक है कि प्रेम का चित्रण हो। इसी दौरान कवि के सपनों का भी परिचय मिलता है। प्यार और सपने मनुष्य मात्र के होते हैं, लेकिन कवि का प्रेम और उसके सपने औरों से भिन्न हुआ करते हैं। जहाँ सामान्य आदमी का प्रेम अपने तक सीमित होता है, उसके सपनों का संबंध बस

अपने स्वार्थ तक सीमित होता है, कवि के प्रेम और सपनों की व्याप्ति सुदूर प्रसार हुआ करती है। भूमंडलीकरण के दौर में प्रेम का या तो अभाव लक्षित होता है अथवा अत्यंत संकुचित रूप में प्रयोग हो रहा है। संवेदनाएँ छीजती, कराहती, घुटती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में अंशुल प्रेम की सामर्थ्य पर गहरी आस्था प्रकट करते हैं तो उसका युगीन महत्त्व है। छुआछूत, भेदभाव से भरे वातावरण में भी कवि निराश नहीं है। वह 'इलाहाबाद में प्रेम' शीर्षक कविता में साफ-साफ कहता है, ''न कॉलरबोन/न जाति/न बेरोजगारी/कुछ भी आड़े नहीं आएगा/मुझे पता है।'' (पृ.16) 'वो' के प्रति कवि का प्रेम कैसे व्यापक हो जाता है, उसका एक उदाहरण है—''इस आजाद देश की किसी तस्वीर में। उस निरंतर विसर्जित की खोज में/भरमेंगी मेरी आँखें... हमेशा.../इस आनंद भवन में।'' (पृ. 17)

उपभोक्तावादी सभ्यता में 'यूज एंड थ्रो' को जीवन का अंग बनाया जा रहा है। मनुष्य 'प्रॉडक्ट' में तब्दील होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कवि अपने प्रेम की शक्ति को पहचानता है। ''मैं/तुम्हारे काफी कलर में डूबे हुए/ओठों को याद करता हूँ/हर पराजय में।'' (पृ. 33)

यह युवा कवि अत्यधिक भावुकता का कायल भी नहीं। उसकी कविताओं से गुजरकर ऐसा लगता है कि वह किसी स्तर पर दैहिकता को अस्वीकार भी नहीं करता है, लेकिन यह भी बताना अनुचित न होगा कि इस कवि के लिए 'देह' सब कुछ नहीं है। ठगे जाने, धोखा खाने के बावजूद इस कवि में 'जिद' भी है कि अपनी स्मृतियों को खंगालता रहे। कई कवियों में अकेलापन, सूनापन और निस्संगता का चित्रण है, परंतु यहाँ कवि कहता है—''जितना कम पड़ता हूँ मैं/अपने पूरेपन में/होने पर में अपने/बस, उतना ही रह गई होती तुम अपने जाने के बाद भी/मेरे पास।'' (पृ. 119-120) खालीपन से घिरे रहते हुए भी कवि पूरेपन का अहसास करता है। तभी तो उसकी चाहत है, ''महावर से तुम्हारे/चाहता हूँ, युगों तक/न छूटे ये महावर।'' (पृ. 136)

'पंजाबी का लोर्का' पाश ने कभी लिखा था—''सबसे खतरनाक होता है, सपनों का मर जाना।'' अंशुल के समीक्ष्य कविता-संग्रह में ''सपने बार-बार आते हैं। कई रंगों में, रूपों में। विभिन्न संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों में भी।'' 'रात के दूसरे पहर', 'जबकि जानता हूँ', 'उस रंगरेज से' आदि कविताओं में कवि की दृष्टि का परिचय मिलता है। यहाँ इतना बताना पर्याप्त होगा कि कवि के सपनों में एक बड़ा सपना है मनुष्य को बचाने का। यह कवि की बड़ी चिंता है। प्रेम के मार्फत से मानवता को जीवित रखने की कश्मकश भी है। तभी तो कवि लिखता है, ''और एक ताजी गर्म 'प्रेस' से/सपनों में लाता है/एक गर्माहट/और चाहे हुए/तमाम मोड़।'' (पृ. 131) अपनी लंबी कविता 'आधी रात में देवसेना' में कवि का स्पष्ट आग्रह है, ''मुझे एकदम पता नहीं/सपनों में गैर-शामिल लोगों को/जीवन में बने रहने का हक/कितना है।'' (पृ. 34)

अंशुल की कविताओं में समय का यथार्थ भी अपनी वीभत्सता के साथ अंकित हुआ है। कवि ने अपनी गहरी संवेदनशीलता के साथ समाज की विसंगतियों को चंद शब्दों में प्रस्तुत

किया है। नारी-विमर्श के शोर-शराबे से दूर संग्रह की पहली छोटी-सी कविता 'इतिहास में स्त्रियाँ' में अंशुल एक छोटा-सा सवाल पेश करते हैं, 'इतिहास में स्त्रियाँ कहाँ थी?' (पृ. 11) रानी, दासी, राजकुमारी राजमाता आदि के रूप में नारी को पेश किया जाता रहा। इतिहास में स्त्री कभी नहीं रही। उसकी अस्मिता को लगभग ठुकराया गया है। हालाँकि हम सभी जानते हैं कि इतिहास कहकर जिसे हमारे सामने परोसा जाता है, वह लिखा नहीं गया है, लिखवाया गया है, इस नौ पंक्तियों की कविता में कवि ने सिद्ध कर दिया है कि वह शब्दों का बड़ा मितव्ययी है।

'दंगे', 'ओमप्रकाश', 'क्या कहूँ उससे', 'वो बूढ़ा बैंगनी कबूतर' आदि कविताओं में युगीन संदर्भ के चित्र हैं तो 'कैसे' कविता में परिवारबोध की विसंगतियाँ हैं। 'एक अदीब के घर' में साहित्य की राजनीति की उठा-पटक मौजूद है। पूँजी, बाजार और विज्ञापन की मिलीभगत का पर्दाफाश करती है, 'ये प्राइम टाइम है'। नई पीढ़ी की बहुओं की मानसिकता बदल रही है तो कवि ने स्वार्थपरता पर तीव्र प्रहार करते हुए 'नववधू' शीर्षक कविता लिखी है। 'अद्यतन' कविता पढ़ते हुए राजेश जोशी की 'दो पंक्तियों के बीच' की याद आती है। कानून की गोलियाँ हुआ करती हैं।

"ये एक खास तरह के लोगों के पास होती हैं।
ये एक खास तरह के लोगों के पक्ष में हैं।"

(पृ. 127)

'लाल लोचन बिहारी, लालगंज और मनोरमा' भी एक महत्त्वपूर्ण कविता है, जिसमें कवि ने स्थानीयता और वैश्विकता को ओत-प्रोत किया है। सामाजिक संदर्भों से युक्त कवि की कविताएँ अधिक प्रभावशाली लगती हैं। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की सहायता के बावजूद अंशुल पाठकों पर अपना असर छोड़ते हैं। अंशुल का यह पहला संग्रह हमें आश्वस्त करता है—

"इस बेहद निराश समय में
इस वक्त मेरे पास
महज एक रात होती शाम
और कविता भर बची है।"

(पृ. 105)

'और यकीनन यह जगह है, बची है उम्मीद/बचा है भरोसा।'

—प्रदीप जिलवाने

प्रदीप की कविताओं में आज का समय बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित हुआ है। आज का समय भूमंडलीकरण का है। पूरी दुनिया एक संक्रमण काल से गुजर रही है। बाजार का प्रभुत्व है। वस्तु यानी प्रॉडक्ट का महत्त्व है। विज्ञापनों की चकाचौंध में दुनिया भटक रही है। मानवीय मनोभावों को कोई तवज्जो नहीं दी जा रही है। मानवीय रिश्तों में दरार नहीं,

बड़ी फाट दिखाई पड़ रही है। जीवन में यांत्रिकता का बोलबाला है। कुल मिलाकर, तमाम प्रतिकूलताओं के बीच मानव जीवन छटपटा रहा है। खुशी की बात है कि प्रदीप जिलवाने अपने पहले कविता-संग्रह में अपने समय की गहरी पहचान करते हैं। पुनः बड़ी सूझ-बूझ के साथ सधे हुए स्वर में पूँजी के दुश्चक्र को बेनकाब करते हैं। 'कैलेंडर पर मुस्कराती हुई लड़की' शीर्षक कविता में बाजार की सच्चाई को अभिव्यक्त करते हैं, "और मुस्कुराते हुए उसके होंठों पर/एक किस्म का आमंत्रण है/और यह आमंत्रण उसकी देह में समाने का नहीं/उसकी देह पर चुपड़े 'प्रोडक्ट' तक जाने का है।" (पृ. 31) नारी शरीर को वस्तु की तरह इस्तेमाल करते हुए 'बाजार' अपना मुनाफा प्राप्त किए जा रहा है। नारी प्रसन्न है कि उसके 'सौंदर्य' का विज्ञापन हो रहा है। उसकी प्रतिष्ठा बढ़ रही है। संग्रह की अंतिम कविता में प्रदीप की नारी चिंता बेहद उद्वेलित करती है। 'मॉडर्निटी' के नाम पर 'वलगरिटी' और 'स्मार्टनेस' के नाम पर 'नंगई' को कवि छिपाता नहीं, बल्कि उसका विरोध करता है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' की असलियत को कवि व्यक्त करता है—

"मगर कौन नहीं जानता कि बंद किवाड़ों के भीतर/यहाँ नारी को कितना और कैसे पूजा जाता है! और जबकि किवाड़ों के बाहर भी/दुनिया अब उन्हें महज देह साबित करने में व्यस्त है/सिर्फ उनका पल्लू जानता है कि/वे पसीने की कितनी अभ्यस्त हैं।" (पृ. 124) पूँजी और बाजार के खेल में नारी को 'प्रॉडक्ट' बनाकर खरीद-फरोख्त करना मानवता के समक्ष बड़ी चुनौती तो है ही, यह गहरा संकट भी है। संग्रह की पहली कविता 'पगडंडी से पक्की सड़क' के माध्यम से प्रदीप ने परंपरा के औचित्य पर सवाल खड़ा किया है। 'खुरदुरी हथेलियों पर घर ढोना', 'अश्रुओं को रसोई तक ही रखना' जैसी काव्य-पंक्तियों के माध्यम से गहरी अर्थ-व्यंजना प्रकट होती है। परंपरा से चली आ रही नारी जीवन की त्रासदियाँ या कह लीजिए विशेषताएँ भी इसी कविता के माध्यम से स्पष्ट होती हैं।

प्रदीप की कविता में शोर नहीं है। यह एक ऐसा कवि है, जो बड़ी सहज भाषा में गंभीर मुद्दों पर बात कर सकता है। प्रदीप अपनी एक कविता 'भाषा' में समाज में व्याप्त चारित्रिक दोहरेपन को केवल चित्रित नहीं करते हैं, बल्कि युग की एक गंभीर समस्या पर सोचने के लिए विवश करते हैं। संवेदनशील पाठक को झकझोर कर रख देते हैं, "हमारी नैतिक भाषा कुछ और होती है। सामाजिक कुछ और/राजनीतिक कुछ और।" एक व्यक्ति पर कितनी भाषाएँ, कितने प्रकार की भाषाएँ। व्यक्तित्वहीन होना व्यक्ति का संकट नहीं, पूरे राष्ट्र का है। कवि अधिक स्पष्टता के साथ कहता है, "हमारी दोमुँही चिकनी-चुपड़ी भाषा/विक्षिप्त आदमी के संकेतों-सी गूढ़ रहस्यमय" (पृ. 14) इतना सब कुछ होने पर भी व्यक्ति सुषुप्तावस्था में हैं, यथार्थ से आँखें मूँदकर सोया रहता है। अपनी लंबी कविता 'नींद' में कवि की चिंता है, "नींद में होना एक बड़ी 'रिस्क' है/खासकर इस दौर में।" (पृ. 17) पाश लिखते हैं, "बीच का रास्ता नहीं होता" पर इस युवा कवि के अनुसार "बीच की जगह है कोई/और यकीनन यह जगह है। बची है उम्मीद/बचा है भरोसा।" (पृ. 17)

प्रदीप प्रतिबद्ध कवि हैं। 'उस मुहल्ले के बच्चे...', 'हाशिये से बाहर', 'दुरसिंग का फल्या' आदि बीसों कविताएँ कवि की प्रतिबद्धता जाहिर करती हैं, लेकिन इन कविताओं में कोई प्रचारधर्मिता नहीं है। अर्थ-व्यंजना के साथ कोई समझौता नहीं है। 'कविताई' तो है ही। इस संग्रह में कई लंबी कविताओं को भी संकलित किया गया है। इनमें कवि ने क्रमबद्धता, तारतम्यता और विचार-प्रवाह को कहीं भी टूटने न दिया है। एक और भी विशेषता है इस संग्रह की है—गद्य कविता का प्रयोग। 'एक पल को देखकर' पूरी तरह गद्य कविता में रचित है तो 'स्मृतियों से' का अंतिम अंश भी गद्य में रचा गया है। दरअसल, जीवन के ठहराव, विचारों में ठहराव आदि को संकेतित करते हुए गद्य का प्रयोग किया गया है।

प्रदीप जिलवाने की कविताएँ पाठकों से संवाद भी कर रही होती हैं। उससे न केवल पठनीयता, बल्कि एक आत्मीय संबंध भी कायम रहता है। पाठक कविता के भावों से जुड़ता चला जाता है। आज के समय में ऐसी कविताओं की सख्त जरूरत है, जबकि कविता के पाठकों की संख्या में लगातार ह्रास होने की चिंता जाहिर हो रही है। 'सड़क पर खून', 'अनचाहा उपवास', 'बिके हुए खेत की मेड़ पर बैठे एक किसान का शोकगीत', 'डर के बारे में', 'क्रमण', 'आदमखोर समय', '1992 : एक दुखद स्मरण', आदि कविताओं से गुजरकर प्रतीत होता है कि प्रदीप जिलवाने व्यापक रेंज के कवि हैं। लूट-खसोट, छल-छद्म, हिंसा, दंभ, दिखावा, अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषण आदि का विरोध है। प्रतिरोध भी। जीवन को बेहतर बनाने की चिंता है तो मनुष्य और मनुष्यता के समर्थन में खड़े होने की पूरी जद्दोजहद है। इसलिए कवि की कविताएँ हमें निराश नहीं करतीं, उम्मीद जताती हैं, संभावना के अनंत द्वार उन्मुक्त करती हैं। कवि ने समय की विद्रूपताओं और समाज की विसंगतियों को छिपाया नहीं, बल्कि उनका उन्मुक्त चित्रण किया है। वह उद्योग और विकास के नाम पर ढाई जा रही विनाश-लीला का खुलासा करता है। प्रेम के महत्त्व को भली-भाँति समझता है। प्रसन्नता की बात है कि कवि स्वयं को अकेला नहीं पाता। यह प्रदीप का 'विजन' है, जो उनकी कविताओं को नई अर्थवत्ता प्रदान करता है, "भले ही हथियार उठाना नहीं जानते मेरे साथ/लेकिन अकेला नहीं हूँ मैं/अपनी लड़ाई में।" (पृ. 71) इसलिए 'गलाघोंटू बदबूदार गंध' से भरपूर 'लगभग आदमखोर हो चुका समय' की विकरालता के बावजूद कवि को भरोसा है और विश्वास भी, "आज नहीं तो कल दुनिया भर में/एक ही भाषा बोली जाएगी/एक ही भाषा समझी जाएगी/एक ही भाषा में लिखा जाएगा/आदमी का इतिहास।" (पृ. 94)

"आदमी के पास हो कम-से-कम
एक आदमी।"

—गौरव सोलंकी

गौरव सोलंकी की चौहतर कविताओं का संग्रह है, 'सौ साल फिदा'। एक कवि और 74 कविताएँ, किसी कवि की क्षमता का सही आकलन नहीं है। सही आकलन तो उनमें

से कुछ कविताओं से गुजरने के बाद हो सकता है। सामर्थ्य के बारे में जान सकते हैं। कविताओं में अभिव्यक्त कवि की चिंताओं के युगीन संदर्भ में परीक्षण करने के पश्चात् कवि का महत्त्व पता चलता है। यह भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कवि की रचनाएँ जीवन संदर्भों, युगीन चेतना को कितनी रूपायित करती हैं, इसके आधार पर भी विश्लेषण अपेक्षित हो। कहना न होगा कि गौरव की कविताएँ इन आधारों या मानदंडों पर 'मिसफिट' नहीं होती हैं। इस संग्रह में कवि की जीवनी शक्ति और संघर्ष, सामाजिक यथार्थ और प्रेम-सौंदर्य एवं अनूठे शिल्प और अंतर्विरोधों, सीमाओं, कमजोरियों को उकेरने की शक्ति निहित है।

समकालीन कविता में 'घर वापसी' 'घर की तलाश' केंद्रित अनेक उम्दा कविताएँ उपलब्ध हैं। ऐसा इसलिए हो सकता है कि 'घर' टूटते जा रहे हैं और वे मकान में तब्दील हो रहे हैं। रिश्तों की उष्मा समाप्त होती जा रही है और रागात्मक संबंधों पर बाजारवादी अर्थव्यवस्था हावी होने लगी है। गौरव इस पीड़ा से संत्रस्त हैं, आशंकित भी। अतः कविता-संग्रह को समर्पित करते हैं, 'घर के लिए, जिसे जितना ढूँढ़ो, वह उतना खोता जाता है' घर वापसी का प्रयास, यानी आदमी के पास पहुँचना जहाँ बची है आदमियत, जहाँ जीवित है स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर मनुष्य बनकर जीने की अभीप्सा। 'कि घर है' शीर्षक कविता में कवि ने लिखा है, "तुम्हारे लगातार बेघर होने की प्रक्रिया में/मैं घर हूँ/तुम्हारी सरहद होने की प्रक्रिया में पाकिस्तान?" (पृ. 89) कवि का निश्चय देखते ही बनता है। अँधेरे को वह स्वीकार नहीं करता, पर उसकी सीमा को वह जानता है। बाधक तत्त्व हैं जरूर, जो 'घर' तक न पहुँचने देने की साजिश करते हैं। कवि की स्पष्टोक्ति : "नींद भर अँधेरा है/और है रात में रेत/जिसमें मैं तुमसे कहता हूँ कि घर है/लौटेंगे।" (पृ. 90) आलोच्य कविता-संग्रह की पहली कविता 'खाली होते हैं घर, लदता है सामान' हमारी सभ्यता के समक्ष चुनौती पेश करती है तथा एक बहुत बड़े संकट की ओर हमारा ध्यान खींचती है। सामान से घर का पट जाना अर्थात् अपने मूल्यों और संवेदनाओं पर पूँजीवादी, साम्राज्यवादी शक्तियों का भारी पड़ना है। कितनी बड़ी चिंता है इस नवयुवक कवि की पंक्तियों में, "किसी और के आने में आपको जाना होता है/खाली होते हैं घर, लदता है सामान।" (पृ. 12) चारों ओर भीड़ है। लोगों की भीड़ है, लेकिन उसमें इन्सान नहीं के बराबर। कवि के लिए घर की खोज एक-आध घंटे या दिन अथवा महीनों में सीमित नहीं है। यह एक निरंतर प्रक्रिया है, "हमें हाथ पकड़कर चलना है/खोना है मेलों में/और ढूँढ़ते रहना है घर।" (पृ. 19) अगर वह इप्सित घर मिल जाए तो समय और समाज में खुशहाली छा जाएगी। बस, जरूरत है कि 'लौटकर जाने के लिए होगा घर' सुख-संपन्नता से दुनिया भरपूर हो जाएगी। तभी तो कवि का विश्वास है, 'इतना सुख होगा कि हम अघा जाएँगे पगली।" (पृ. 71)

गौरव की 'कहीं और करेंगे अपने बच्चे पैदा' एक अच्छी कविता है। समय की विडंबना को गौरव ने बखूबी अंकित किया है। महज अंकन नहीं हुआ है, बल्कि एक बड़ी चिंता की ओर हमारा ध्यान खींचा है, "यह भी अखबार में छपा है कि हम भी आदमी हैं/है हमारी

जमीन आदमी की जमीन और हमारा रोना आदमी का रोना।" (पृ. 138) इसलिए गौरव की कविता के बारे में सही कहा गया है, "गौरव की कविताएँ बिना किसी भूमिका के हमारे जीवन में दाखिल होती हैं। वे एक अनूठे फॉर्म में हमारे सामने आती हैं, बिना किसी कवच के। वे इतनी निहत्थी हैं, जहाँ कोई डर नहीं बचता। उनके रोने में भी लगातार एक चुनौती, एक दहाड़ और एक गुस्सा है।"

गौरव सोलंकी की कविताओं में प्रेम तथा उसके रूप बड़ी मात्रा में दिखाई देते हैं। यह कवि घोषित करता है कि 'प्यार से गले तक छके हैं हम।' यद्यपि इस प्रेम में शरीर हावी होता है, लेकिन 'दो-चार भली बातें' मन को प्रसन्न कर देती हैं, 'उम्मीद बचाए रखनी है/मानवता के खत्म होने की आशंका के बीच/मुझे बचाए रखनी हैं/अपने नाचने और गाने की संभावनाएँ।' (पृ. 82)

'सौ साल फिदा' की अधिकांश कविताओं से आशाएँ बंधती हैं। हाँ, कुछ कविताएँ, 'छलती हुई स्त्रियों के खिलाफ', 'मैं ईश्वर', 'डायल किया गया नंबर अभी व्यस्त है' कमजोर प्रतीत हुई। अपने पहले काव्य-संग्रह में ही गौरव सोलंकी ने निजी पहचान बनाई है। उम्मीद है कि वे इस पहचान को अगले मुकान तक पहुँचाएँगे। आज यथार्थ जटिल से जटिल होता जा रहा है। उस बदलते यथार्थ को तल्खी के साथ दिखाने की जरूरत है।

कहना न होगा कि समकालीन कविता में युवास्वर की विशेष पहचान है। युवा कवियों ने अपनी युगीन विडंबनाओं पर अपने ढंग से व्यंग्य किया है। समय के अंतर्विरोधों से वे स्वयं रू-ब-रू हैं और दूसरों को परिचित करते हैं। मानवता को बचाए रखने की चिंता युवा कवियों की मूल चिंता है।

□□□

विश्व मानव चेतना और रवींद्रनाथ

वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक साहित्य में मनुष्यता की चिंता व्यक्त हुई है। मनुष्य के हित का भाव साहित्य में निहित है। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि साहित्य का कर्म, धर्म और उद्देश्य मनुष्य ही है। साहित्य में चित्रित मनुष्य किसी जाति, धर्म, अंचल या राष्ट्र की सीमा तक आबद्ध नहीं रहता। वह बद्ध नहीं होता, मुक्त होता है। उसका स्वरूप संकुचित नहीं, व्यापक होता है। न तो वह ब्राह्मण होता है और न चांडाल। वह न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान और न ही बौद्ध या ईसाई। उसकी एक ही जाति होती है और वह है मानव जाति। उसका एक ही धर्म होता है वह है मानव धर्म। उसके प्रदेश का नाम है मानव प्रदेश। संपूर्ण भूखंड उसका व्यापक कर्मस्थल होता है। इसलिए भारतीय मनीषा ने विश्व मानव की कल्पना की थी। पूरे विश्व के मनुष्यों का एकमात्र परिचय है, विश्वमानव। सारी वसुधा एक परिवार है। कहा भी गया है—

"अयं निज परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।"

सपूर्ण संसार को कुटुंब के रूप में देखना विश्व मानवता का परिचायक है। विश्वबंधुत्व हमारा विचार या दर्शन मात्र नहीं है, यह हमारी प्रेरणा का केंद्र है, लक्ष्य है। बिडम्बना है कि 'भूमंडलीकरण' को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहकर लोगों को भरमाया जा रहा है, भटकाया जा रहा है। दोनों दो ध्रुवों के हैं। भूमंडलीकरण में बाजार है, पूँजी की प्रभुता है। मनुष्य का वर्चस्व है। वसुधैव कुटुंबकम् में प्रेम, आत्मीयता और सौहार्द का महत्त्व है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ दावा करती हैं कि पूरी दुनिया में एक-सा पहनावा-ओढ़ावा, खान-पान, बोली-भाषा, रहन-सहन और चाल-चलन होंगे। पूरी दुनिया में समानता रहेगी। भेद-भाव भी मिट जायेगा। ऐसा होगा जरूर लेकिन इसके लिए बड़ा मोल चुकाना पड़ेगा। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपनी अस्मिता आदि को त्यागकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मालामाल करना होगा। संक्षेप में, भूमंडलीकरण का नारा खोखला है, दिग्भ्रमित करने वाला है। आज की भूमंडलीकृत दुनिया में दूरियाँ घट गई हैं। विचार संकीर्ण हो रहे हैं। चारों ओर लोग हैं। ऐसे

में मनुष्य कहाँ हैं? मनुष्य ने व्यक्ति का रूप धारण कर लिया है। समाज तब्दील हो चुका है भीड़ में। भीड़ बढ़ती जा रही है और समाज घटता जा रहा है। स्वार्थ का बोलबाला जारी है। दिनोंदिन हिंसा बढ़ती जा रही है। अविश्वास एवं संदेह की जड़ मजबूत हो रही है। घृणा के भाव पनप रहे हैं और प्रेम के बंधन ढीले पड़ रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में सर्वाधिक बाधित हो रही है विश्व मानव चेतना। सबसे अधिक क्षति होती है मानवता की, वसुधैव कुटुम्बकम् की। यह अत्यंत चिंता का विषय है। फलस्वरूप, इस संदर्भ में हमें रवींद्रनाथ की दृष्टि से परिचित होना आज की सर्वाधिक प्रयोजनीयता है। विश्व मानव चेतना के बारे में रवींद्रनाथ के विचारों की प्रासंगिकता पर चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

रवींद्रनाथ ठाकुर का नाम आते ही जो बिंब तत्काल सामने उपस्थित होता है, वह है विश्व यानी यूनिवर्स। विश्व में पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, तारे, आकाश, नदी, नाले, ताल-तलैया आदि, सभी समाहित हैं। रवींद्रनाथ का सृजन-जगत् भी ऐसा है। इस सृजन-जगत् के अनेकानेक संदर्भ हैं। व्यापक परिप्रेक्ष्य है। ईश्वर से लेकर मनुष्य तक और प्रकृति से लेकर विज्ञान तक समस्त विषय कवि की समर्थ लेखनी से सफल रूप में चित्रित हुए हैं। कविता, गीत, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, संस्मरण, आलोचना, पत्रलेखन, संपादन, अनुवाद आदि विधाएँ जीवंत बनी हैं। वे स्वयं अभिनेता, संगीतकार, चित्रकार, चिंतक आदि कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। कुल मिलाकर एक पूर्णता की तस्वीर प्रस्तुत करता है रवींद्रनाथ का नाम। एक बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचायक है यह नाम। अत: विश्वकवि की उपाधि रवींद्रनाथ के लिए ही सार्थक हुई है।

यह सर्वविदित है कि रवींद्रनाथ ने बाल्यावस्था से वेदों, उपनिषदों आदि का अध्ययन किया था। बालक रवींद्रनाथ ने इन ग्रंथों का केवल अध्ययन नहीं किया था बल्कि अध्ययन के पश्चात् उन्होंने चिंतन-मनन भी किया था। उनकी विश्व मानव चेतना का बीज हमारे प्राचीन भारतीय आकर ग्रंथ हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का उल्था पेश कर दिया है। अगर ऐसी बात होती तो उनकी रचनाएँ मानव जाति को 'अपील' नहीं करतीं। उन्होंने ज्ञान और अनुभव के समन्वय से इस चेतना को विकसित किया है। बंगाल के प्रसिद्ध बुद्धिजीवी भवतोष दत्त के अनुसार—बालक रवींद्रनाथ का उपनयन या यज्ञोपवीत धारण के दौरान मंत्र प्रदान किया गया "ऊँ भूर्भूवस्व तत्सवितु वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योन प्रचोदयात्"। अन्य बालकों की तरह रवींद्रनाथ ने केवल इसे रट भर नहीं लिया। उन्होंने इसका अर्थ जानने का प्रयास किया। इसके बाद 'भू' को हृदबोध करने के लिए कड़ी साधना की। विश्व मानव चेतना का बीज यहाँ प्रस्फुटित होता है। रवींद्रनाथ ने कहा भी है— "आबाल्यकाल उपनिषद् आवृत्ति करते आमार मन विश्वव्यापीपरिपूर्णता के अंतर्दृष्टिते मानते अभ्यास करेछे।" अर्थात् संपूर्ण बाल्यावस्था में उपनिषद् की आवृत्ति करते-करते मेरा मन विश्वव्यापी पूर्णता को अंतर्दृष्टि से मानने के लिए अभ्यास करता रहा। भारतीय ऐतिह्य की विविध परंपराओं ने उन्हें ध्यान और कर्म की साधना

के लिए प्रवृत्त किया था। जगत् के सर्वजन की आत्मीयता ने उन्हें आकर्षित किया था। इसमें उन्होंने स्वदेश की मर्यादा को कहीं विस्मृत नहीं किया था। तभी तो परवर्ती काल में उन्होंने उदात्त कंठ से गायन किया—

"मिले गेछ आज विश्वदेवता, मोर सनातन स्वदेशे।" (मेरे सनातन स्वदेश में आज विश्वदेवता एकाकार हो गया है।)

'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' के पहले रवींद्रनाथ ने भारतीय भक्ति-साहित्य विशेषत: मध्ययुगीन बांग्ला साहित्य के मर्म को उपलब्ध किया था। उन्होंने पाया कि इस साहित्य में मानव चेतना को प्रसरित करने का प्रयास है। यह काव्य जोड़ता है, तोड़ता नहीं, मिलाता है, अलगाता नहीं। वैमनस्य के स्थान पर सौहार्द और प्रेम का भाव प्रचार करता है। सद्भावना की स्थापना करता है। मानवता को सर्वोपरि मानता है। यह काव्य मानव प्रेम को आधार मानता है। धर्म, जाति, वर्ण इत्यादि के भेद-भाव को दूर करता है। ऐसे में कवि की चेतना को उद्दीप्त करती है चंडीदास की वाणी—"सुनो हे मानुष भाई, सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई।" अर्थात् हे मनुष्य भाई! सुनो! सर्वोपरि सत्य मनुष्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं होता। मनुष्य के ऊपर कुछ नहीं होता यानी धन, वैभव, जाति, गोत्र यहाँ तक कि ईश्वर भी मनुष्यता से बड़ा नहीं होता। चंडीदास की मर्मस्पर्शी वाणी ने उनकी विश्व मानव चेतना को आधार प्रदान किया। इसके बाद क्षितिमोहन सेन के माध्यम से उन्होंने कबीर को जाना, तुलसी को समझा। नानक और अन्य संतों की भावाभिव्यक्तियों को अपने जीवन और कर्म में उतारने का प्रयत्न किया।

भारत और बांग्लादेश दोनों स्वाधीन राष्ट्रों के राष्ट्रीय संगीतों के रचयिता रवींद्रनाथ ने लिखा था—'बांग्लार माटि बांग्लार जल।' परंतु रवींद्रनाथ का यह बांग्ला प्रदेश उदार मानव धर्म से सदा दीक्षित रहा है। भारत के साथ, विश्व के साथ बांग्ला भूमि का सदा संबंध-सूत्र कायम किया है। बंगाल की गिरि-कंदराओं में जो उपादान छितरे पड़े हैं, टूटे सदनों में जो स्मृतियाँ जुड़ी हैं, तीज-त्योहारों में जो सत्य छिपा पड़ा है, मुहावरों और कहावतों में जीवन के जो तमाम दृश्य विद्यमान हैं, इन विषयों पर ध्यान दिया जाये तो रवींद्रनाथ की 'बांग्लार माटि' संकीर्णता में जीवित नहीं है। इसे निस्संकोच कहा जा सकता है। नदी, पर्वतों से बंगाल की सीमा बँधी नहीं है। यह उस सीमा को लाँघकर विशालता की ओर उन्मुख है। इसलिए रवींद्रनाथ की 'बांग्लार माटि' के मूल में उदार मानविकता है। विश्व प्रेम ही उनका उद्देश्य है। पूर्णप्राण ही 'बांग्लार माटि' की मनुष्यता है। समानता, प्रेम, न्याय, मैत्री उस मानव चेतना के आधार हैं। इसलिए 1921 में उन्होंने 'विश्वभारती' की प्रतिष्ठा की। जब संपूर्ण विश्व में शिक्षण संस्थानों के नाम स्थान और व्यक्ति के नाम के अनुसार नामकरण होने का प्रचलन था, रवींद्रनाथ ने नामकरण किया 'विश्वभारती'। इसका आप्त वाक्य है—"अथेयं विश्वभारती, यत्र विश्वम् भवत्येकनीड़म्" अर्थात् यह विश्वभारती है जहाँ विश्व एक नीड़ के समान है। ध्यान देने की बात है कि उन्होंने सिर्फ विश्वभारती ही कहा। इसके साथ विश्वविद्यालय की

पूँछ नहीं लगाई थी। अत्युत्साही रवींद्र प्रेमी इस नाम के साथ छेड़-छाड़ करते हुए आजकल लिखने लगे हैं। 'Visva-Bharati University—A Central University' खैर, यह अलग प्रसंग है। गुरुदेव ने तमाम भारतीय और पाश्चात्य भाषा-साहित्य विभागों की स्थापना की। कला भवन, संगीत भवन 'श्रीनिकेतन' आदि के माध्यम से अपनी विश्वचेतना को प्रसरित करने का स्तुत्य प्रयास किया। तमाम भाषाविदों, चिंतकों, बुद्धिजीवियों को शांतिनिकेतन में आमंत्रित किया। मानवतावाद के मूलस्वर को विश्वभारती में निनादित किया। 'गोरा' उपन्यास में गोरा कहता है—"आज मैं भारत वर्ष का हूँ। मेरे अंदर हिन्दू-मुसलमान-ईसाई किसी समाज का कोई विरोध नहीं है। आज इस भारतवर्ष की समस्त जातियाँ मेरी जाति हैं। सबका अन्न मेरा अन्न है।" इसी विश्व मानव चेतना को चलते उन्होंने आह्वान किया था—

"आओ आर्य, आओ अनार्य, आओ हिन्दू हे मुसलमान
आओ अंगरेज, आओ ख्रस्तान
हे ब्राह्मण, निर्मल मन से आओ
माँ के अभिषेक हेतु, शीघ्र आओ
सबके स्पर्श से पावन किये गये तीर्थ जल से
यह मंगल कलश हुआ नहीं परिपूर्ण अब तक
भारत के इस महामानव के सागर तट पर।"

'भारततीर्थ' शीर्षक कविता 'गीतांजलि' में संगृहीत है। इसमें कवि ने समस्त धर्मों, जातियों और संस्कृतियों को आमंत्रित किया है। इस कविता की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

हे मेरा चित्त, पुण्यतीर्थ, जागो रे धीरे
इस भारत के महामानव के सागर किनारे।

'बांग्लार माटि' का सच्चा गायक, सच्चा भारतीय यही 'एइ भारतेर महामानबेर सागर तीरे' का हार्दिक आमंत्रण दे सकता है। इसलिए रवींद्रनाथ बंगाल या भारत के ही नहीं विश्व के कवि हैं। विश्व कवि के नाम से ख्यात हैं जो यथार्थ है। पता नहीं कि संपूर्ण विश्व में 'विश्वकवि' के रूप में रवींद्रनाथ परिचित हैं या नहीं परंतु निर्विवाद रूप से वे भारत में तथा भारत के बाहर कई देशों में विश्वकवि के रूप में स्वीकृत हैं। इससे भी बड़ी बात है कि रवींद्रनाथ 'मनुष्य के कवि' हैं।

रवींद्रनाथ की विश्व मानव चेतना अधिक परिपुष्ट होती है उनकी तमाम विदेश यात्राओं से। जितनी बार उन्होंने विदेशों की यात्रा की, उन्होंने भारत को उतने ही निकट से जाना। मानव चेतना की पुरजोर वकालत की। संसार की मानव जाति को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। मानवोचित उदात्त गुणों को विस्मृत न करने का आह्वान किया तो हीनभावों को दूर करने का आग्रह किया। संकीर्णता की जगह 'विशाल पृथ्वी' की ओर उन्मुख होने के लिए अनुरोध किया।

संसार की उत्पत्ति और उसके विकास के बारे में वैज्ञानिकों के सिद्धांत की चर्चा की जाती है। मनुष्य की उत्पत्ति के संबंध में भी वैज्ञानिक अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते हैं परंतु मनुष्य के उद्‌विकास के बारे में रवींद्रनाथ की अनुभूति भिन्न है। मनुष्य को कर्ता, अपने संपूर्ण अस्तित्व के नियंता के रूप में आधुनिक दर्शन प्रस्तुत करता है तो रवींद्रनाथ उससे भी प्रभावित नहीं प्रतीत होते हैं। मानवीय ऐश्वर्य के स्वरूप के बारे में उनका विचार भिन्न है। उन्होंने कहा है—"हमारे मन में ऐसे कौन हैं जो है तो मानव परंतु जो व्यक्तिगत मानव को पार कर सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट हैं। वह सार्वजनीन सार्वकालीन मानव हैं। उसके आकर्षण से मनुष्य के चिंतन, भाव, कर्म में सार्वजनीनता का आविर्भाव होता है।" स्पष्ट है कि रवींद्रनाथ ने यहाँ वैयक्तिक मानव को सार्वकालिक सार्वजनीन मानव की ओर प्रेरित किया है। इस दृष्टि से मनुष्य की समाप्ति मनुष्य में नहीं है। उन्होंने अन्यत्र कहा भी है—"वे ही इसकी परम गति हैं, परम संपद हैं। वे ही इसके परम आनंद हैं अर्थात् इसकी परिपूर्णता उनमें है। यह उत्कर्ष के मार्ग पर उस वृहत्तरता की ओर उन्मुख है। वहीं है इसका ऐश्वर्य। वहीं है इसकी प्रतिष्ठा। उनमें ही उसका शाश्वत आनंद है।" गूढ़ दर्शन का सहारा लिया न जाए। रवींद्रनाथ की विश्व मानव चेतना में जिस मानव का उल्लेख है और वह जिस देश में रहता है वह देश भौगोलिक सीमा में आबद्ध नहीं है। वह तो मानसिक क्षेत्र में निवास करता है जिसकी कोई सरहद नहीं होती। वह पूर्ण पुरुष है। उसे हम चाहे सार्वजनीन मानव कहें या चिरंतन मानव या फिर किसी अन्य नाम से क्यों न जानें लेकिन यह मानव चिरंतन सत्य है, मृत्यु से परे। इसके आधार पर उन्होंने लिखा भी है—"समस्त मानवजाति में एक वृहत् और गहरा ऐक्यभाव है।... वह ऐक्यभाव, या मानवब्रह्म इंद्रियग्राह्य हो या नहीं परंतु है वह अविभाज्य। उसे छोटी-छोटी स्वतंत्र सत्ता में विभाजित नहीं किया जा सकता। देश व काल की सीमा में आबद्ध जो खंडित मानव या व्यक्ति सत्ताएँ हैं, बाहर से भले ही उनमें विचित्र भेद दिखाई पड़े, आत्मिक सत्यता में वे एक हैं, क्योंकि वे इसी परम एकता पर आश्रित हैं।"

सवाल यह खड़ा होता है कि सार्वजनीन, सार्वकालिक मानव एक है और अविभाज्य है तो एक ही काल में मनुष्य में इतना अंतर क्यों है? इतनी मार-काट कैसी? इतने आत्मघाती हमले फिर क्यों? रवींद्रनाथ ने इन प्रश्नों पर भी विचार किया है। तभी तो वे रवींद्रनाथ हैं। अन्य कोई होता तो दर्शन के बाद चुप्पी साध लेता। रवींद्रनाथ ने अपने चिंतन को कालानुसार रूप देते हुए उसकी जड़ तक जाने का प्रयास किया और उन कारणों को भी ढूँढ़ लिया है जिसके चलते यह प्रतिकूल परिस्थिति मानव समाज के सामने खड़ी है। उन्होंने कहा है—"आपको तब मैं रुपयों में, ख्याति में, भोग-विलास में पाना चाहता हूँ। इसे लेकर ही तो मनुष्य के तमाम विवाद; सारा रोना। मनुष्य की मानव-सत्ता के बारे में इस प्रकार का विकार बोध जातियों में शत्रुता, वर्गों में संघर्ष और अत्याचार आदि तमाम सांसारिक समस्याओं का मूल कारण है।" दरअसल, उस परम मानव सत्ता के बारे में मनुष्य की अनुभूति विकृत हो तो वह चाहे जो भी बन जाए, कुछ भी बने लेकिन 'मनुष्य' पदवाच्य नहीं रह पाता। 'मनेर

मानुष' को खो देता है। जब 'मनेर मानुष' से व्यक्ति दूर हो जाता है, तभी ऐसी दुर्गति आ खड़ी होती है और हिंसा, द्वेष, वैमनस्य की आँधी प्रवाहित होने लगती है। इसलिए कविगुरु ने सहज आनंद का संधान वहीं किया है जहाँ मानव जीवित है। वे मानव मूल्य के हास से अत्यन्त चिंतित थे। इसलिए उन्होंने आजीवन अपने उस स्वप्न को सच करने का प्रयास किया जिसमें छोटा मनुष्य बड़ा मनुष्य बने। अस्थि-चर्म और हाड़-मांस का मनुष्य अपनी दुर्बलताओं को त्याग कर विश्व मानव की ओर अग्रसर हो सके। अतः उन्होंने केवल भारत के दीन-हीन, अत्याचारित, शोषित मनुष्य की चिंता नहीं की है बल्कि भारतीय भौगोलिक सीमा के बाहर तमाम दीन-हीन, पीड़ित और शोषित मनुष्य का पक्ष लिया—

"दल का उपेक्षित हूँ मैं
मनुष्य की मिलन-क्षुधा से पीड़ित
जिस मनुष्य के अतिथि निवास में
दीवारें नहीं और न है टहलदारी।
लोकालय के बाहर मिले मेरे निर्जन के साथी
जो आये हैं इतिहास के महान युग में
साथ लिए प्रकाश, अस्त्र, महावाणी
वे हैं वीर, तपस्वी, मृत्युंजय
वे हैं मेरे अंतरंग, मेरे वर्ण और गोत्र के
पवित्र हूँ उनकी पवित्रता से
खोया हूँ मनुष्य को सीमा में
मिल सका हूँ मैं उससे
देश-विदेश की सारी सीमाओं को पार कर।
करबद्ध प्रार्थना है उससे
हे चिरकाल का मनुष्य हे सकल मनुष्यों का मनु
परित्राण करो
भेद-भाव से
संकीर्णताओं के औद्धत्य से।"

संकीर्णता चाहे वैयक्तिक हो, धार्मिक, सामाजिक या अन्य किसी प्रकार की हो इससे मानव-जीवन विदीर्ण होता है। कलह, विवाद, आगजनी, हिंसा का माहौल खड़ा होता है। सर्वाधिक पीड़ित होती है मानवता और विश्व मानव चेतना। इसलिए बंधन स्तरों को छिन्न-भिन्न करना आवश्यक है। विश्वव्यापी तमाम बंधनों से मनुष्य की मुक्ति ही सर्वाधिक काम्य थी। मुक्त समाज में प्रेम का प्रकाश भरेगा। प्रेम और एकता से शक्तिशाली होगा विश्व मानव। ऐसा गुरुदेव रवींद्रनाथ का दृढ़ विश्वास था। तभी उन्होंने कहा है—

"कत घरे दिले ठाइ, दूर के करले निकट,
बंधु परके करले भाई।"

अर्थात् कितने घरों में शरण दी, दूर को निकट ले आये,जो पराये थे, हे मित्र, तुमने उन्हें आत्मीय बनाया। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में रवींद्रनाथ की इन काव्य पंक्तियों की सार्थकता स्वयंसिद्ध है।

1907 में रवींद्रनाथ ने अपने 'विश्वसाहित्य' शीर्षक निबंध में विश्व मानव की चिंता पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"यह धरती मेरा, तुम्हारा और उनका खेत नहीं है। धरती को ऐसा सोचना ग्राम्य भावना है। ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मेरी, तुम्हारी या उनकी रचना नहीं है। सामान्यतः हम साहित्य को ऐसी ग्राम्य भावना के रूप में स्वीकार करते हैं। उसी ग्राम्य संकीर्णता से अपने को मुक्त करके विश्व साहित्य में विश्व मानव को देखने का लक्ष्य हमारा उद्देश्य होना चाहिए। प्रत्येक लेखक की रचना में किसी संपूर्णता को अपनाना एवं उसी संपूर्णता में मानव अभिव्यक्ति के प्रयास का संबंध स्थापित करना है।"

रवींद्रनाथ ने अपनी अस्सीवीं जन्मजयंती के अवसर पर एक स्वरचित निबंध का पाठ किया था। यह निबंध है 'सभ्यता का संकट' (सभ्यतार संकट)। आज से सत्तर वर्ष पूर्व रवींद्रनाथ ने गहन चिंतन-मनन के पश्चात् आने वाले दिनों में संकट के स्वरूप को स्पष्ट किया था। यहाँ भी उन्होंने मनुष्य और मनुष्यता का विजय-गान किया था।

"मनुष्य पर विश्वास खोना पाप है। इस विश्वास की अंतिम समय तक रक्षा करूँगा। उम्मीद करूँगा कि महाप्रलय के पश्चात् वैराग्य के मेघमुक्त आकाश में इतिहास का एक निर्मल आत्मप्रकाश शुरू हो इस पूर्वांचल को सूर्योदय के दिगंत से। फिर एक दिन अपराजित मनुष्य अपनी विजय यात्रा के अभियान में तमाम बाधाओं को अतिक्रमित करते हुए अग्रसर होगा अपनी महत् मर्यादा को लौटाने वाले मार्ग पर। मनुष्यता के अंतहीन प्रतिकार विहीन पराभव को चरम विश्वास करने को मैं अपराध समझता हूँ।"

मनुष्य और मनुष्यता के प्रबल-विश्वासी गुरुदेव रवींद्रनाथ ने स्पष्टतया घोषणा की है—"मनुष्य में जो कुछ श्रेष्ठ है उसे संकीर्ण रूप से किसी जाति में बंद करके नहीं रखा जा सकता है, वह कृपण के अवरुद्ध भण्डार की संपत्ति नहीं है।"

रवींद्रनाथ ने प्रबल आस्था के साथ 'महामानव' के आगमन की सूचना देते हुए गायन किया है—

"ऐ महामानव आसे
दिके दिके रोमांच लागे
मर्तधूलिर घासे घासे
सूरलोके बेजे उठे शंख
नरलोके बाजे जयडंक
एल महाजनमेर लग्न।

आजि अमारात्रिर दुर्गतोरण जत
धूलितले हये गेल भग्न
उदय शिखरे आगे मा भैः मा भैः रब
नवजीवनेर आश्वासे।
जय जय जय रे मानव अभ्युदय
मन्द्रि उठिल महाकाशे।''

अंततः कहा जा सकता है कि विश्व मानव चेतना के संदर्भ में रवींद्रनाथ की दृष्टि अनुकरणीय है। रवींद्र साहित्य की सबसे बड़ी चिंता है कि मनुष्य और मनुष्यता की रक्षा कैसे संभव हो। मानवता बचेगी तो विश्व मानव चेतना प्रसरित होगी। मानव मूल्यों का क्षरण, रूढ़िवादिता, संकीर्णता, भेद-भाव आदि इस चेतना के बाधक तत्व हैं। आज देश ही नहीं, परिवार बंट रहा है और मनुष्य भी खंड-खंड में विभाजित हो रहा है। इस टूटन से बचाने के लिए और भावगत एकता की स्थापना तथा प्रतिष्ठा करने के लिए रवींद्र साहित्य में अभिव्यक्त विश्व मानव चेतना को रेखांकित किये जाने की आवश्यकता है। रवींद्रनाथ की दृष्टि को उज्जीवित किया जाए तो आज की दुनिया में व्याप्त दुख घटेगा और जुड़ाव बढ़ेगा। एक स्वस्थ विश्व का निर्माण हो सकेगा। यह आशा ही नहीं विश्वास भी है।

□□□

हाशिये की नारी : उत्तर औपनिवेशिक बांग्ला कवयित्रियों के संदर्भ में

''मैं उन समाजों के बारे में बात कर रहा हूँ जिनका सार चूस लिया गया, जिनकी संस्कृतियाँ नष्ट कर दी गईं, संस्थाएँ बर्बाद की गईं, जमीनों पर कब्जा किया गया, धर्मों को नष्ट किया। उत्कृष्ट कलाकृतियों का विनाश किया गया, उनकी विलक्षण संभावनाओं को समाप्त कर दिया गया.... मैं उन लाखों-लाख मनुष्यों की बात कर रहा हूँ जिन्हें अपने-अपने देवताओं, अपनी धरती, अपनी जिंदगी, अपनी मृत्यु और अपनी मनीषा से काटकर अलग कर दिया

—आइमे सेजायर

गया।''

''उत्तर-औपनिवेशिकता, मेरी समझ में, औपनिवेशिक अतीत के प्रति अपनी अवस्थिति को परिभाषित करने का उपक्रम है। यह महज काल का प्रश्न नहीं है, उपनिवेशवाद के परिणामों का प्रश्न नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति का प्रश्न है जो कि उपनिवेशवाद का सामना करने से आगे, उससे परे जाने का प्रयास है। उसके प्रभाव चौखटे से बाहर निकल कर अपने लिए एक स्वायत्त और मुक्त अस्मिता की पुनर्प्राप्ति का प्रयास है।''

—जसवीर जैन

''हममें से यदि कोई रमणी कलम उठा ले तो सासजी शेरनी की भाँति आ धमकतीं—'देखती हूँ, आज तुझे कौन बचाता है? कुलकलंकिनी! तूने क्या कर डाला? चिट्ठी लिख रही है, किसे बुलाकर घर रखने का खयाल है?' यदि कोई किताब उठा ले तो ननद आकर पूछती

—गिरींद्रमोहिनी दासी

है—विलायत जाने की तैयारी शुरू हो गई क्या?''

''क्या आपको मालूम है कि भारत में सबसे अधम प्राणी कौन है? वह है भारतीय नारी। इसके लिए आँसू बहाने वाला कोई नहीं। जानवर के लिए सोचने वाले मिल जाते हैं। इसलिए यत्र-तत्र 'पशु दुःख निवारण समिति' दिखाई पड़ती है। लेकिन हम लोगों के लिए, निर्यातित बंदिनियों के लिए, नारी जाति के लिए आँसू टपकाने वाला एक भी इंसान इस भू-भारत में नहीं है।.... जो मौलवी नारी-शिक्षा के विरोध में फतवे जारी करते हैं, वे छद्मवेशी शैतान

—रोकेया बेगम

हैं।''

आज उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य चिंतन सर्वाधिक चर्चित विषय के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर रहा है। 'उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य' के स्वरूप, आशय आदि पर विद्वानों में काफी मत-भेद हैं। 'उत्तर-उपनिवेशवाद' स्वतंत्र भारत से ही संबंधित न होकर भारत के उपनिवेश काल से संपृक्त है। भारतीय संस्कृति पर साम्राज्यवादी प्रक्रिया के प्रभावों के अर्थ में उपर्युक्त पद का प्रयोग किया जाता है। व्यापक अर्थ में देखा जाए तो बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक दुनिया के तीन चौथाई से भी अधिक देशों पर यूरोपीय साम्राज्य का शासन था। एक से लेकर तीन शताब्दियों तक दुनिया के विभिन्न देशों पर यूरोपीय आधिपत्य जारी रहा। इन देशों में औपनिवेशिक कानून, प्रशासन, न्यायपालिका, नौकरशाही, सरकारी तंत्र, पुलिस, सेना आदि को लेकर जो अनुभव हुए थे, रचनाकारों ने उन अनुभवों का स्वतंत्र मूल्यांकन किया। यह मूल्यांकन उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों का मूल आधार है। यह केवल पश्चिम के बारे में नहीं है बल्कि अपने देश में फैले औपनिवेशिक उपक्रमों से भी संबंधित है। दरअसल, उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य विमर्श अपनी पहचान बनाने का उपक्रम है। उपनिवेशित होने का प्रतिरोध है। हाशिए में धकेले जाने का प्रतिरोध है। जब व्यक्ति देखता है कि उसके अनुभवों को झुठलाया जा रहा है और उससे यथार्थ को विकृत किया जा रहा है तो उसका प्रतिरोध मुखर होता है। इसलिए उत्तर उपनिवेश चिंतन में इसे यूरोप केंद्रित या यूरोप तक सीमित कर नहीं देखा जाता है। औपनिवेशिक अनुभव प्राप्त करने वाले किसी भी काल या किसी भी समाज के अध्ययन को इसके अंतर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अनुभव का सर्वाधिक महत्त्व है।

यह सच है कि फ्रांज फैनन और एडवर्ड सईद के अध्ययन से उत्तर औपनिवेशिक साहित्य विमर्श को नये आयाम मिले। उत्तर औपनिवेशिक सिद्धात की चर्चा पिछले पचास-साठ वर्षों से हो रही है। लेकिन 1990 तक आते-आते उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन में अधिक व्यापकता आई। (मुखर्जी, मीनाक्षी—इंटेरोगेटिंग पोस्ट-कोलोनिऑल डिस्कोर्स, पोस्ट-कोलोनिआलिज्म : थियॉरी, टेक्स्ट एंड कंटेक्स्ट, पृ. 231, आई.आई.ए.एस., शिमला 1996), नस्लीय श्रेष्ठताबोध, लैंगिक भेदभाव, प्रतिरोध, नव-उपनिवेशवाद, भाषाई वर्चस्व, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, विस्थापन, हाशियाकरण, प्राच्यवाद, प्रतिमानीकरण आदि विषयों के आधार पर विमर्श प्रस्तुत किये गये। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक के प्रसिद्ध लेख 'केन द सबाल्टर्न स्पीक' की भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय भूमिका रही है।

उत्तर-औपनिवेशिक बांग्ला साहित्य में हाशिए की नारी की आवाज़ की चर्चा के पहले बंगाल की नारी की विविध स्थितियों पर सम्यक् प्रकाश डाला जाना चाहिए। 1757 में बंगाल में अंग्रेज राज स्थापित हुआ। कलकत्ता व्यापार और वाणिज्य का केंद्र बना। उन्नीसवीं शताब्दी में कल-कारखानें स्थापित हुए। उद्योग भी शुरू हुए। विभिन्न गाँवों से, मुफस्सल इलाकों से लोग अर्थोपार्जन की उम्मीद में कलकत्ता आ पहुँचे। धनी-दरिद्र, उच्च-वर्ण-निम्नवर्ण, शिक्षित-अशिक्षित जन कलकत्ता के निवासी होते गये। इनमें सामाजिक आदान-

प्रदान हुआ। ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार और धर्मांतरण को तत्कालीन शिक्षित-बंगालियों ने विरोध किया। ब्रिटिश प्राच्यविद्या विशारदों का प्राचीन भारत के 'गौरवोज्ज्वल अतीत' को खोजने का प्रयास हुआ तथा तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं को प्राचीन रीति-नीति का बर्बर विकार कहा गया। अत: शिक्षित बंग-समाज ने रीति-नीतियों का विश्लेषण करना शुरू किया तथा प्रचलित मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। (कॉफ, डी-ब्रिटिश ओरिएंटालिज्म एंड द बेंगल रेनासां, बर्कले, पृ. 22 यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1969) ऐसी स्थिति में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे चिंतकों का आगमन हुआ। इस दौरान बंग-समाज में नारी की स्थिति बड़ी दयनीय थी। 1819 में राममोहन राय में 'सतीदाह' पर प्रकाशित अपनी दूसरी पुस्तिका में साफ तौर पर कहा है—''एक साथ चूल्हा-चौका कर पाने वाली, शय्यासंगिनी, विश्वस्त होकर घर की देख-भाल करने वाली उपयोगी जंतु बने रहने वाले के अलावा नारी को किसी दूसरे रूप में नहीं देखा जाता है।'' (बसु, राजनारायण और वेदांत वागीश आनंदचंद्र (सं.) राजा राममोहन राय ग्रंथावली, पृ. 205, कलकत्ता; आदि ब्रह्म समाज, 1913-14) पुरुष की तुलना में नारी तो दीन-हीन थी ही। ऐसी सोच न केवल बंगाल या भारत में थी, बल्कि पूरी दुनिया में कायम थी। नारी घर की चहारदीवारी में कैद थी। ऊपर से शिक्षा के प्रकाश से भी वंचित। जमींदार परिवार की नारी और विधवा के अलावा नारी समाज में शिक्षा का अभाव था। जमींदार परिवार की नारी को इसलिए शिक्षा मिल जाती थी कि वह हिसाब ठीक से कर ले। विधवा के धर्मग्रंथों के पाठ हेतु वर्ण-परिचय करना पड़ता था। राममोहन ने पितृसत्तात्मक हिंदू समाज की तीव्र आलोचना की है। पुरुष-समाज को उन्होंने स्वार्थी और ढोंगी करार दिया तथा नारी के महत्त्व को स्वीकार न करने के मूल में पुरुष की स्वार्थपरता को जिम्मेदार ठहराया है—''स्वार्थी पुरुष ने प्रकृति प्रदत्त प्रशंसनीय नारी के उत्कृष्ट गुणों को अस्वीकार किया है।'' (घोष, जे सी—द इंग्लिश वर्क ऑफ राजा राममोहन राय, पृ. 177, 1901) द्वारकानाथ ठाकुर, हेनरी विवियन लुई डिरोजिओं, प्रसन्नकुमार ठाकुर, आदि अनेक महानुभावों के प्रयासों से नारी-शिक्षा और नारी-मुक्ति का मार्ग उन्मुक्त हुआ। उल्लेख किया जा सकता है कि राममोहन से प्रभावित होकर गौरमोहन विद्यालंकार ने 'स्त्री शिक्षा विधायक' की रचना की थी। बावजूद इन प्रयासों के बंग-समाज की नारी शिक्षा व नारी-मुक्ति के संबंध में विचार बदल नहीं गये। हालाँकि थोड़ा-सा अंतर जरूर आया। 1854 में बेथून स्कूल खुला ताकि नारी-शिक्षा को बढ़ावा मिले। ईश्वर गुप्त ने 1850 में एक कविता लिखी जिसका शीर्षक था 'अकाल'। इस कविता में यह चिंता प्रकट की गई है कि शिक्षा लाभ करने के बाद नारी अपनी प्राकृतिक विशेषताएँ खो बैठेगी। उसके गुण दुर्गुणों में तब्दील हो जायेंगे—

''लड़कियाँ बहुत अच्छी होती थीं, व्रत रखा करती थीं सभी
अकेले 'बेथून' ने सर्वनाश कर दिया, कितनी भली हुआ करती थीं सभी
हाथ में किताबें दबाकर कभी ए बी पढ़ती हैं

कभी बीवी बनती हैं, विलायती बोली बोलती हैं
हाथों में चाकू-चम्मच लेंगी, चटाई डालकर क्या खाना खायेंगी।''

—चट्टोपाध्याय, बंकिम (सं.)
दुर्भिक्ष, कविता संग्रह, प्रथम खंड, पृ. 121, कलकता, 1895

स्पष्ट है कि पुरुषवादी वर्चस्व ने नारी-शिक्षा को तब तक स्वीकार नहीं किया था। परंतु 'मासिक पत्रिका' (1854), 'बामाबोधिनी पत्रिका' (1863), 'अबला बांधव' (1869) ने नारी की उन्नति के लिए, उन्हें शिक्षा-दीक्षा प्रदान करने के लिए व चेतना प्रसरित करने के लिए बड़ी भूमिका अदा की। 1860 के आस-पास कैलासवासिनी देवी, ताहेरन नेसा, सौदामिनी देवी, मधुमती गांगुली, कृष्णकामिनी, कामिनीसुंदरी आदि की किताबें प्रकाशित हुईं। नारी शिक्षा की ओर समाज का जो रवैया था उसमें किंचित् बदलाव आया। लेकिन, सत्ता और शक्ति को अपनी मुट्ठी में कैद करके रखने वाला पुरुषवादी वर्चस्व भला कब नारी-समाज के उत्थान के लिए समर्पित हुआ है? अतः स्वाभाविक है कि हाशिए की नारी के सामने लंबी लड़ाई है, उसे लड़ना है, जूझना है। समानता का अधिकार उसे यूँ ही कोई प्रदान करने वाला नहीं है। मधुमती गांगुली ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—''बंगदेश की बहनों! परमेश्वर ने पुरुषों को निर्मित किया है तो परमेश्वर ने हमारी भी रचना की है। उसने पुरुषों को जो अंग-प्रत्यंग, मनोवृत्ति, बुद्धि आदि प्रदान की है, उनकी अधिकारिणी हमें भी बनाया है।... इसलिए दोनों जातियाँ बराबर हैं।'' नारी को जाग्रत करने के लिए तथा उसे अपनी अस्मिता और सामर्थ्य का अहसास कराने के लिए नारी रचनाकारों ने अद्भुत प्रयास किया है। सौदामिनी देवी ने नारी-जाति की दयनीय स्थिति और हाशिए में धकेलने के लिए पुरुष-जाति को ही जिम्मेदार ठहराया है—''पुरुषों ने हमें ऐसी शोचनीय स्थिति में हमें क्यों धकेला है? क्या हम परमपिता की संतान नहीं हैं?... कब तक, जंजीरों से बँधकर घर के कोने में पड़ी रहेंगी?'' (राय, अनुजानंदिनी (सं.) बामाप, पृ. 221, कलकाता, 1899) राजबाला देवी, कैलासवासिनी देवी, वासंतीकुमारी आदि लेखिकाओं ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में पुरुष को जिम्मेदार माना है तथा पुरुष-समाज की चालाकियों का खुलासा किया है।

बंगाल के पल्ली-समाज का एक चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है। समय लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक का था। कामिनी राय नामक कवयित्री का अक्षर ज्ञान रसोईघर में होता है। कच्ची मिट्टी की दीवार पर, वह चौके का काम करते हुए, अक्षरों का अभ्यास करतीं और दूसरों से नज़र बचाकर रात को वह गोबर से लीप देतीं। चूँकि पल्ली-समाज में यह मान्यता थी कि नारी शिक्षा प्राप्त कर ले तो अन्याय और अनीति के मार्ग पर चलेगी, इसलिए कामिनीजी ने लुक-छिपकर पढ़ना शुरू किया था। लोग यह भी सोचते थे कि पढ़-लिख ले तो नारी गुप्त रूप से पत्रालाप करेगी। ऐसे माहौल में भी कामिनी देवी ने कविता

लिखी। समाज की पीड़ित नारी की वेदना को 'पिशाच पीड़ित नारी की आवाज़' माना तथा नारी शक्ति को दानव दलन करने वाली कहा—

''रमणी शक्ति है असुर विनाशिनी
तुम भला किस धातु से हो बनी।''

—राय, योगेंद्रनाथ गुप्त (सं) बंगेर महिला कवि, पृ. 98
देज पब्लिशिंग, कोलकाता, द्वितीय संस्करण, 1957)

पुरुष के अत्याचार को कामिनीदेवी ने राक्षस कहा तो एक और बांग्ला कवयित्री ने नारी के अपमान और उसकी उपेक्षा का स्पष्ट विरोध किया है। जिस देश में शिक्षित पुरुष नारी के सम्मान को बनाए रखना नहीं जानता और दूसरी ओर जिस देश की शिक्षित नारी को अपनी शक्ति और सामर्थ्य का अंदाजा नहीं है, लोक-लाज के डर से अन्याय को बढ़ावा देती जा रही हो, उस देश में नारी-आंदोलन के फलने-फूलने में काफी देर लगेगी। क्षत्राणी न हो तो क्लेश बढ़ेंगे। नारी को ही अपने अधिकार के लिए आगे बढ़ना होगा। उसे आत्म गौरव को पहचानना होगा। वह कहती हैं—

''चाहिए मुझे अपना सम्मान
नहीं चाहिए मुझे वैभव हीरा-पन्ना
चाहिए नहीं संसार का राज-सम्मान।''

—यथोपरि, पृ. 117-18

बीसवीं शताब्दी तक आते-आते नारी-समाज के एक बहुत बड़े हिस्से ने महसूस करना शुरू कर दिया था कि उसे दोहरी पराधीनता से मुक्ति चाहिए। अत्याचार और शोषण का प्रतिरोध करना चाहिए। मानकुमारी ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी—''पुरुष नारियों पर अत्याचार या उत्पीड़न करते रहें या स्त्री-जाति को अज्ञानांधकार में धकेलकर स्वयं ज्ञानालोक से प्रकाशवान बने रहे—यह कथमपि युक्तिसम्मत नहीं है। संतान प्रसव करना, शिशु-पालन, घर सजाना, ये काम नारी करती जरूर है, लेकिन ये काम नारी-जीवन के उद्देश्य नहीं हैं।'' उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक पचासों नारी कवियों ने बांग्ला में पुरुष अत्याचारों का विरोध किया, प्रतिरोध की आवाज़ बुलंद की। दीन-हीन, दुर्बल स्थिति से उबरकर अपने स्वत्व की खोज की। इन कवयित्रियों ने वर्चस्व सत्ता के अंतर्विरोधों का खुलासा करने के साथ-साथ अपनी अस्मिता को स्वतंत्र रूप से बनाये रखना चाहा। पुरुष समाज ने नारी जाति को सदा उपेक्षा की नज़र से देखा है। नारी अपमानित और लांछित होती आई है। फिर भी, वह पुरुष-समाज की ओर उम्मीद भरी नज़र से देखती रहती है। आत्म-निर्भर हेतु कोई प्रयास नहीं करती। कवयित्री पंकजिनी बसु (1884) ने अवहेलित नारी-समाज को संबोधित करते हुए अनेक कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं में पंकजिनी नारी-जाति की अकर्मण्यता के साथ-साथ पुरुष समाज की यथेच्छाचारिता का पर्दाफाश किया है। हाशिए की नारी की आवाज में व्यंग्य है तो प्रहार भी—

"अँधेरे के कीड़े का दलन होता है पड़ी है
लंबा घूँघट डाले घर की चहारदीवारी में
पता भी कैसे चले प्रकाश के प्राणी को?

परलोक सिधारे पत्नी छोड़ साठ साल के पति को
घर ले आते पति दूसरी नई नवेली दुल्हन को
न तो शर्म-हया है और न मान अपमान
ढोंग करते हैं खूब पत्नी-प्रेम और गुणगान।"

—यथोपरि, पृ. 175-76

इतिहास आधारित एक लोक कथा है कि वराह का पुत्र मिहिर जो वराहमिहिर के नाम से बहुश्रुत है, ज्योतिषशास्त्र का दिग्गज पंडित था। उसकी गणना को खना (गूँगी) नामक युवती ने गलत साबित किया। इससे राजकुल की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है। यह युवती कहीं आगे चलकर राजकीय विद्वता के लिए चुनौती न बन जाए, इसलिए उसकी जीभ काट कर फेंक दी गई और वह गूँगी बनी रही। बंगाल के घर-घर में 'खना-वचन' प्रसिद्ध है। नारी कवि खना हाशिए की नारी कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी रही है। आज़ाद भारत में बांग्ला लेखिकाओं की रचनाओं में पुरुष समाज का दमन तो है ही, उस दमन का प्रतिरोध है तथा वर्चस्व की सत्ता के लिए चुनौती भी। कविता सिंह, मल्लिका सेनगुप्त, विजया मुखोपाध्याय, सुतपा सेनगुप्त, कृष्णा बसु, चित्रा लाहिड़ी, चैताली चट्टोपाध्याय, नवनीता देवसेन, संयुक्ता बंद्योपाध्याय, वीथि चट्टोपाध्याय आदि की कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के विविध आयाम अंकित हुए हैं। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के पराभवों से ग्रसित इन कवयित्रियों की रचनाओं में समाज में रहकर भी विस्थापित होने की पीड़ा है, मुक्ति के लिए संघर्ष है, दमन और शोषण का प्रतिरोध है, अपने स्वत्व व अधिकार को हासिल करने की लड़ाई है और अपनी अस्मिता का अन्वेषण है। उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य के पाश्चात्य संदर्भ से बांग्ला का संदर्भ भिन्न है। यहाँ की नारी अपने अर्थनैतिक और सांस्कृतिक संदर्भों से युक्त है। उसे अपने प्राचीन मूल्यों की चिंता है तो पराधीनता की पीड़ा भी है। पाश्चात्य नारी की तरह वह अर्थनैतिक दृष्टि से भी स्वतंत्र नहीं है। इसलिए कोई चाहे तो बांग्ला या भारतीय नारी को 'सबाल्टर्न' परिधि में रख सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर बंगाल में नारीवादी चेतना की घोषणा कविता सिंह की कविताओं से शुरू होती है। पुरुषतांत्रिक समाज व्यवस्था ने कविता सिंह को साहित्य की दुनिया से विस्थापित और किनारे कर दिया था। उन्हें कभी वह स्थान न दिया गया था जिसकी वह अधिकारिणी थी। उनके प्रतिरोध और वेदना के नये स्वर को तत्कालीन समाज ने सिर्फ इसलिए नहीं पहचाना कि वह नारी थी। उनके क्रोध और प्रतिवाद को साहित्य के दिग्गजों ने केवल इसलिए नज़र-अंदाज किया कि कहीं उनकी अपनी प्रतिष्ठा धूमिल न हो जाए। मल्लिका सेनगुप्त

ने कहीं लिखा है कि कवितासिंह की शोक-सभा में उपस्थित प्रतिष्ठित पुरुष कवियों ने कवयित्री के शारीरिक सौंदर्य, प्रेम संबंध आदि के बारे में बढ़-चढ़कर कहा। लेकिन उनकी रचनाओं, संवेदनाओं आदि पर किसी ने कुछ न कहा। आज़ाद बंगाल की इस प्रथम नारीवादी चिंतक को पुरुष वर्चस्व ने उपेक्षित, अलक्षित और निर्वासित कर दिया। पुरस्कृत करने की बात तो दूर उसकी अस्मिता तक को किनारे कर दिया। इस पुरुष आधिपत्य को लिंग-भेद जनित सबाल्टर्न कैसे चुनौती देता है और कविता सिंह उत्तर-औपनिवेशिक बांग्ला कविताओं में उसे कैसे प्रस्तुत करती हैं? इसे जानने के लिए उनकी कविता 'ईश्वर को इव' का पाठ जरूरी है। इसमें बाइबिल की कहानी की पुनर्व्याख्या की गई है। इव में पितृसत्तात्मक हाशिएकरण का विरोध दर्ज किया है। ईश्वर के समक्ष इव के वक्तव्य में हमें बंग-नारी का स्वर सुनाई पड़ता है। नैतिक चौकीदारी और सामाजिक बंधनों के विरुद्ध आवाज सुनाई पड़ती है। पुरुषवादी समाज द्वारा प्रदत्त सीमित स्वतंत्रता से वह अप्रसन्न है। वह स्पष्ट कर देती है कि वह क्या माने या नहीं, यह उस पर निर्भर करता है। इसका अधिकार ईश्वर को भी नहीं है, पुरुष को तो है ही नहीं। नारी सशक्तिकरण का यह प्रारंभिक उद्गार है। आत्मानुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति है। विरोध व प्रतिरोध का नया स्वर इस पाठ में नारी की सबाल्टर्न स्थिति को प्रकट करता है—

मैंने ही सबसे पहले समझा
कि उत्थान का दूसरा पहलू
है अध:पतन।
जैसा है प्रकाश
वैसा है तमिस्रा
मैंने ही सबसे पहले जाना था।
तुम्हें मानना या न मानना
बराबर है
मैंने ही सबसे पहले समझा था।
मैंने ही सबसे पहले स्पर्श किया था
बोधिवृक्ष
मैंने ही सबसे पहले चखा था
लाल सेब।

प्यारे मेरे
हे क्रीतदास
मैं हूँ पहली व्रात्यनारी
स्वर्गच्युत

निर्वासित
जान पाई थी
स्वर्गेतर
स्वर्गेतर
मानवजीवन
मैं ही हूँ प्रथम।

—सिंह, कविता—कविता सिंहर श्रेष्ठ कविता, पृ. 59-61
देज पब्लिशिंग, कोलकाता, तृतीय संस्करण, 2009

एक दूसरी कविता 'मैं हूँ वही लड़की' में कवयित्री ने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है अनेक परिचित-अपरिचित और दुःखी संतप्त लड़कियों का चित्र। ये लड़कियाँ अपनी कारुणिक स्थिति का इज़हार करती हैं। अपमानित जीवन की यंत्रणादग्ध दिनचर्या के पन्ने खुलते जाते हैं। कहीं बाल-विधवा का प्यासा चेहरा तो कहीं सती-दहन की धधकती आग, कहीं ब्राह्मण की पाँचवीं पत्नी का सिंदूर तो कहीं तीर्थयात्रा पर पहुँची नारी का दैहिक शोषण। कविता की अंतिम तीन पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"मैं ही वही लड़की हूँ
अपने आईने में देखकर
आपलोग मुझे पहचानें।"

—यथोपरि, पृ. 75

कविता सिंह की भाषा प्रतिवाद करती है। प्रत्याख्यान करना जानती है। इसलिए उनकी कविता नारी की असफलता, निष्फल रातों की व्यथा-कथा कहकर खामोश नहीं रहती। प्रेमरहित असफल प्रहरों की वेदना प्रतिध्वनित ही नहीं करती बल्कि दृढ़ता के साथ घोषणा करती है—

"नहीं, बिल्कुल नहीं बनूँगी मोम
जलाकर मुझे लिख पाओगे तुम
बनूँगी नहीं सेमल की रूई सुनहरी
कि तकिया बनकर पाओगे गरमाहट।"

—यथोपरि, पृ. 71

कविता सिंह ने लिखा है—"काव्य का ईश्वर नहीं, ईश्वरी है। वह अकेली है, ईश्वर विहीन है।" यह ईश्वरी देवलोक की नहीं, नरलोक की है। न कहीं शुभ-संकेत है और न ही लक्ष्मी-प्रतिमा की आराधना। कविता कवयित्री के लिए सब कुछ है। इहलोक और परलोक की संगिनी है। भले ही 'लोहे की अलक्ष्मी' जैसे कोई प्रतीक क्यों न हो। 'कविता' शीर्षक में कवयित्री का अनुरोध है—

"छोड़ न जाओ, जरा ठहरो!
बाज़ार में न बिकने वाली
लोहे की कुलक्षिणी
अशुभ रमणी, जरा ठहरो!

देखो निःसंग रात्रि की कालिमा
अपलक तारा के नाखून से
झपटा मार लहू-लूहान कर रही है
सिर्फ तुम्हारी देह
यह काली-सी बिल्ली।"

—यथोपरि, पृ. 25

'हरिणा वैरी' शीर्षक कविता में हिरनी का अकेले में घर की तलाश बहुत कुछ संकेत करती है। सोचने के लिए मजबूर करती है कि क्या कभी किसी भी देश-काल में किसी नारी को अपना 'निलय' प्राप्त हुआ भी है? क्या नारी का अपना कोई घर होता भी है? अगर होता तो कभी खना, कभी रोकेया शेखावत हुसैन, कभी आशापूर्णा देवी अथवा कभी वर्जिनिया वुल्फ की लेखनी में स्वत्व और अस्मिता की तलाश जारी क्यों रहती? कविता सिंह की 'हरिणा वैरी' में इस 'निलय' की खोज है, बड़ी निष्ठा के साथ बताना जरूरी है कि यह हिरनी शिकारी से भयग्रस्त नहीं है। वह 'हिरनी' है, 'हिरन' नहीं। यही है उसकी विपन्नता का मूलाधार। बहरहाल, कविता की चंद पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"हिरनी को पता नहीं कहाँ उसका घर
टूटे तार का इकतारा बनी उसकी बीन

अकेली तलाश करती है
निलय कहाँ है अपना
अरे हिरन!
निलय कहाँ है अपना?"

—यथोपरि, पृ. 98

उत्तर-औपनिवेशिक बांग्ला कवयित्रियों की परवर्ती पीढ़ी ने अपने निरंतर संघर्ष और अध्यवसाय के बलबूते पर बांग्ला कविता की मुख्यधारा में अपना स्थान व महत्त्व प्राप्त किया है। उनके पाठों में हाशिए में धकेली गई नारी के सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण है जिसमें आज भी हजारों बंग-महिलाएँ कराहती नज़र आती हैं। इन उत्तर-औपनिवेशिक बांग्ला रचनकारों ने सत्ता और विमर्श से संबंध की समस्याओं को व्यक्त किया है। स्पीवाक का कहना कि क्या सबाल्टर्न बोल सकता है। इस अर्थ में सही है कि सबाल्टर्न बोले भी तो क्या उसे सुना जाता है? लेकिन लिंगीय सबाल्टर्न वर्चस्व के विरोध में बोल जरूर रहा है और देश, घर, परिवार, स्पेस, विवाह आदि के वैकल्पिक माध्यम की खोज में लगा हुआ है। बांग्ला

रचनाकारों की आवाज़ श्रव्य हो रही है और वे प्रयास कर रही हैं कि किनारे से चलकर केंद्रस्थ बनें।

बांग्ला कविता का एक अत्यंत प्रसिद्ध नाम है, मल्लिका सेनगुप्त। ग्यारह कविता संकलनों में मल्लिका सेनगुप्त ने हाशिए की नारी के विरोध व प्रतिरोध को मुखर किया है। 'पति का काला हाथ' एक छोटी-सी कविता है। इसमें पति की अत्यधिक स्वत्वात्मकता से पत्नी की स्वतंत्र इच्छा खंडित होने की स्थिति का चित्रण है। इसमें वैवाहिक जीवन के अंतरंग क्षणों का चित्रण हुआ है। पति की परपीड़क कामुक चेष्टा से पत्नी आहत होती है, लेकिन पति के क्रोध और चेतावनी के सामने हाशिए की नारी श्वेता विवश होती है। पति की निष्ठुरता के सामने वह समर्पण व समझौता करने के लिए मजबूर होती है—

"मशहरी खोंसकर सोने चली
उसके शरीर का साँप-मेंढ़क को टटोलता है
पति का काला हाथ।
छोड़ो, दुःखता है
मरोड़ डालता है स्तन
गुस्से में भरकर पति का काला हाथ।
बोला सुनो श्वेता, नखरे ना कर
देखूँ यदि बुला रहा है तुझे
आकाश का वह ध्रुवतारा
गहरे गड्ढ़े में पड़ी रहेगी तू
श्वेता की सफेद जाँघें आकाश में नाचती हैं
जकड़ लेती है पीठ पति की
पति की काली पीठ।"

—सेनगुप्त, मल्लिका सेनगुप्तेर श्रेष्ठ कविता, पृ. 29
देंज पब्लिशिंग, कोलकाता, द्वितीय संस्करण, 2011

अपने घर-परिवार में नारी का यह हाशियाकरण जारी है। वह सिर्फ भोग्या बनी रहती है। उसकी इच्छा-अनिच्छा की कोई परवाह नहीं है। उसे 'प्रॉडक्ट' बनाकर रख दिया गया है। वह 'वस्तु' मात्र है, मनुष्य नहीं। गीता चट्टोपाध्याय की एक कविता 'जन्म' का स्मरण होता है। इस कविता में एक छोटी ग्रामीण लड़की को ससुराल की चार दीवारी में आबद्ध दिखाया गया है। बाल्यावस्था में विवाह हो गया। उसके खिलौने उससे छीन लिये गये। घर के बाहर के मुक्त स्थानों तक उसे जाने न दिया गया। शंख की चूड़ियाँ पहना दी गईं, सिंदूर लगाया गया। आलता से पाँव रँगे गये। इन सभी सीमाओं में इसे कैद कर लिया गया। बाल-विवाह का कानून जरूर बना हुआ है लेकिन हजारों बालिका-वधुएँ घरेलू हिंसा का शिकार आज भी बन रही हैं—

"क्या तुम और खेलोगी खिलौनों से?"
माथे पर सिंदूर की रेखा आँकी गई
"क्या तुम देहरी को पार करने की जुर्रत करोगी?"
हाथों में शंख की चूड़ियाँ जड़वाई गईं
"क्या तुम देर करोगी अब घाट में?"
दोनों पाँवों में रँगा गया महावर
शुरू हो गई यंत्रणा
कला की अँधेरी गुफा में।"

—चट्टोपाध्याय, गीता—गीता चट्टोपाध्यायेर कविता संचयन, पृ. 64
आनंद पब्लिशर्स, कोलकाता, 1999

प्रजनन तकनीक के आगमन ने नारी को हाशिए में धकेल दिया है। गर्भपात आवश्यक रूप से एक उत्तर-औपनिवेशिक चेतना के रूप में उभरा है। यदि गर्भपात से नारी प्रजनन-चक्र को नियंत्रित करती है तो इससे उसका अवसाद भी बढ़ रहा है। गर्भपात एक लाभदायी व्यापार के रूप में भी उभर रहा है। भ्रूण परीक्षण पर प्रतिबंध लगाया गया है। परंतु कई निजी संस्थाओं में यह व्यापार बड़े लाभ पर चल रहा है। विजया मुखोपाध्याय की कविता 'विज्ञापन' में हाशिए की नारी की मनोव्यथा प्रकट होती है—

"तो गर्भ गिराया जा सकता है
पाँच-पाँच बार
विज्ञापन में ऐसा ही कहा गया है।

छः सप्ताह का गर्भपात कराकर
रोती हो क्यों बहू
स्तनों पर क्यों था लगा
गहरा पल्लव?
खूनी हाथ लगाकर बच्चेदानी पर
आने वाले बच्चे के विकास को कत्ल कर
राक्षसी नारी!
तुम्हारा भला न होगा
भ्रूणकन्या आयेगी बार-बार
जाना होगा तुझे बार-बार
बदबूदार चिकित्सालय में।"

—मुखोपाध्याय, विजया—विजया मुखोयापाध्यायेर श्रेष्ठ कविता, पृ. 60
देज पब्लिशिंग, कोलकाता, द्वितीय संस्करण, 2010

यह कविता नारी-पुरुष के अनुपात में दिनोंदिन हो रही कमी पर भी चिंता व्यक्त करती है। आज भी देश के अधिकांश स्थानों पर पुत्री की तुलना में पुत्र की कामना करते हैं। भारत के कई प्रदेशों में बेटी का जन्म अभिशाप माना जा रहा है। पाँचवीं-छठी बार गर्भपात कराना नारी कहाँ चाहती है? उसे तो पुरुषतांत्रिक समाज व्यवस्था और उसके वर्चस्व के सामने सिर झुकाकर ऐसा करना पड़ा है। दरअसल, बेटी के जन्म के पहले से उसके बड़े होने तक अथवा मृत्यु तक की यात्रा कितनी भयानक होती है, इस पर भी कवयित्री ने अपनी चिंता जाहिर की है। इसी प्रकार कृष्णा बसु की कविता 'नारी का शव' भी पितृसत्ता को झकझोरने में समर्थ है। बिल्कुल पुलिया के पास नारी का एक गलित शव पड़ा हुआ है। उसका चेहरा अपने बच्चों, परिवार, संत्रस्त करने वाला पति की ओर झुका हुआ है। प्यार की भूखी मूर्ख नारी नहीं जानती कि उसकी ओर कोई ताक भी न रहा है। वह अलक्षित है, अछूत है। पुलिया के पास यह नारी मरी पड़ी है। उत्तर-औपनिवेशिक काल में न जाने कितने गाँवों, शहरों, नगरों और महानगरों में कितनी नारियों के गलित शव कीड़े-मकौड़ों के हवाले हो जाते हैं। कृष्णा बसु ने हाशिए की नारी का वृत्त-चित्र (डाक्यूमेंटरी) प्रस्तुत किया है। मृत-शरीर के बारे में जिज्ञासा प्रकट करती हैं विजयाजी 'अप्रासंगिक' शीर्षक गद्य कविता में—''मैंने मृत-शरीर के बारे में जानना चाहा। किसी ने कुछ भी न बताया। कोई हो तो बोले। एक बार के लिए लगा कि यह शव मेरे किसी आत्मीय का है। फिर लगा कि यह मृत शरीर 'गल्प गुच्छ'—की उस कादंबिनी की है जिसने मरकर सिद्ध कर दिया था कि वह मृत नही, जीवित है। मैं उसका चेहरा देख न सकी, लेकिन निरंतर मेरी जिज्ञासा बनी रही कि यह मृत-शरीर किसका है।'' —यथोपरि पृ. 27

यह नारी मरना नहीं, जीना चाहती है। अपमान नहीं, सम्मान चाहती है। पलायन नहीं, संघर्ष करते हुए जीवन के मूलमंत्र को जपना चाहती है। तभी तो सुतपा सेनगुप्त लिखती हैं—

''एक ही तो जीवन है
बदलूँ इसे कितनी बार
स्वप्न से, सत्य से
मिथक से, झूठ से
भाग जाऊँ तो भागूँ कितनी बार
मरते-मरते कितनी बार जी उठूँ
मैं जीना चाहती हूँ।''

—सेनगुप्त, सुतपा—सुतपा सेनगुप्तेर श्रेष्ठ कविता, पृ. 156
देज पब्लिशिंग कोलकाता, प्रथम संस्करण, 2005

युद्ध हो या सांप्रदायिक हिंसा, नारी या युवती सर्वाधिक प्रभावित होती है। हिंसा का शिकार बनती है नारी और किनारे में पड़ी रहती है। हाशिए की नारी आजीवन पीड़ित होती है। पीड़ित नारी का कोई धर्म नहीं होता है। न ही उसकी कोई जाति होती है। पुरुष इतना

हिंस्र और बर्बर हो उठता है कि माँ के सामने पुत्री का अथवा पुत्री के सामने माँ का धर्षण करने में नहीं हिचकता। मल्लिका सेनगुप्त ने 2002 के गुजरात दंगे के आधार पर रिलीफ कैंप में बेटी के सामने माँ पर किये गये कु-कृत्यों का चित्रण किया है अपनी 'गुजरात जाति-संहार में एक लड़की' शीर्षक कविता में। स्पष्ट है कि यह लड़की हाशिए की प्रतिमूर्ति है—

''गुजरात उसका घर भले हो
त्राण शिविर में उसका कोई ठौर नहीं
क्योंकि
पिता मारे जा चुके हैं
माँ की आबरू लूटी गई है
अपनी आँखों के सामने।''

पाँव तले ठोस जमीन नहीं रह गई। फिर भी यह लड़की, गुजरात की अप्सरा अपने हाथ में टूटी थाल लिए त्राण-शिविर के सामने उम्मीदों से भरकर खड़ी है।

उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय नारी कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात मेहनत करती है परंतु उसके श्रम की कोई कीमत नहीं है। उसकी मेहनत की कोई अहमियत नहीं है। परिवार को सँवारने में, उसकी देखभाल करने में वह अपना सब कुछ न्योछावर कर देती है परंतु उसकी भूमिका को सिरे से ठुकरा दिया जाता है। भारत तथा बँगाल में नारी की समाजार्थिक स्थिति ने उसे उपेक्षित कर रखा है। वह दमित, शोषित, निर्यातित, अवहेलित, उपेक्षित और पीड़ित जीवन जीने के लिए बाध्य होती है। इसे मल्लिका जी ने 'आप बताइए, मार्क्स' कविता में अंकित किया है जो उनके 'अर्धेक पृथिवी' (1993) कविता-संग्रह में संकलित है—

''मुहावरे गढ़े थे जिसने
गुदड़ी बनाई थी
गेहूँ बोना शुरू किया था/आर्यों के खेतों में
द्रविड़ बाला ने
शिशु का लालन-पालन किया
वह मजदूरनी नहीं तो
फिर क्या थी?
श्रम फिर किसे कहते हैं?
आप बतावें मार्क्स,
कौन है मजदूर और
कौन मजदूर नहीं
नये तंत्र में जो माहवार कमाते हैं
क्या वे ही मज़दूर हैं?

वह मजदूर गृहिणी
रोज़ पानी भरती है
घर पोंछती है
चौका करती है
हाड़तोड़ मेहनत के बाद
रात को सुलाकर बच्चे को
रोती रहती है रातभर
क्या वह भी मजदूर नहीं
आप बतावें मार्क्स,
फिर, श्रम किसे कहते हैं?''

—सेनगुप्त, मल्लिका—मल्लिका सेनगुप्तेर श्रेष्ठ कविता, पृ. 41-42
देज पब्लिशिंग, कोलकाता, द्वितीय संस्करण, 2011

घर-परिवार, विवाह के विकल्पों की खोज, तकनीकी विकास के दुष्परिणाम, हिंसा की शिकार बनती नारी, सामाजिक तथा आर्थिक असमानता से उत्पन्न समस्याओं आदि पर उत्तर-औपनिवेशिक बांग्ला कवयित्रियों ने मुखर प्रतिरोध किया है। साथ ही, इन रचनाकारों ने प्रभु-सत्ता, पुरुषवादी वर्चस्व पर कहीं व्यंग्य किया है तो कहीं उसे चुनौती दी है। समानता का अधिकार जब तक इन्हें हासिल नहीं हो जाता है तब तक संघर्ष जारी रखना चाहती हैं। हाशिए की नारी की स्थिति से समाज आँख मूँदकर पड़ा है लेकिन बंगाल की नारी कवियों की भी प्रतिज्ञा है कि वे समाज की आँखें खोलकर ही दम लेंगी।

□□□

ओड़िया दलित कविता : स्रोत, परंपरा और प्रतिरोध चेतना

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सामाजिक परिवर्तन का सपना देखा था। अम्बेडकर के विचार दलित साहित्य के प्रेरणा-स्रोत हैं। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में हिन्दी दलित साहित्य की भाँति ओड़िया दलित साहित्य भी विकसित हुआ है। इस दौर में रचित साहित्य संत्रास एवं शोषण के अनुभव को ब्योरेवार प्रस्तुत करता है। इसमें एक ओर उत्पीड़न का लेखा-जोखा है तो दूसरी ओर दलितों की जाग्रत चेतना विद्यमान है। वास्तव में दलित-साहित्य दलितों के स्वाभिमान को उपस्थापित करता है, बड़ी शिद्दत के साथ। इसमें वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष हेतु आह्वान है। भले ही 'दलित साहित्य' पदबन्ध उत्तर आधुनिक युग' का है, परन्तु इसकी परम्परा बहुत पुरानी है।

ओड़िया साहित्य में जाति-प्रथा के विरोध का स्वर बीसवीं शताब्दी का नहीं बल्कि ग्यारहवीं शताब्दी से सुनाई पड़ता है। चौरासी सिद्धों में से कई सिद्ध ओड़िशा के थे। इनमें भुषुकपाद, दारिकापाद, कान्हुपाद, शबरपाद, कम्बलपाद के नाम उल्लेखनीय हैं। छुआछूत, मिथ्याडम्बर, आदि का एक ओर विरोध है तो दूसरी ओर 'मानुष' को 'मानुष' के रूप में देखने का आग्रह है। सहजिया सिद्ध कवियों के पश्चात् नाथ-साहित्य का विकास हुआ। ओड़िया में नाथ-साहित्य की मात्रा बहुत कम है। फिर भी, इस परम्परा में मनुष्य की मुक्ति की बात उठाई गई है। इसमें ब्राह्मण या वैश्य की मुक्ति का प्रसंग नहीं है। मनुष्य की मुक्ति का सन्दर्भ है। मनुष्य को महान् माना गया है, उसके वर्ण को नहीं। सिद्धों एवं नाथों की रचनाओं में दलित चेतना का बीज रूप सन्निहित है।

ओड़िया दलित साहित्य के विकास में भक्ति-साहित्य के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता। पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी का समय ओड़िशा के इतिहास में ही नहीं उसके साहित्य, धर्म, दर्शन, एवं सामाजिक जीवन में भी प्रभावशाली रहा है। संस्कृत में रचित महाभारत, रामायण, भागवत जैसे ग्रंथ सामान्य मनुष्य की मानसिक क्षुधा निवारण हेतु असमर्थ थे, ऐसी पृष्ठभूमि में सारलादास ने ओड़िया में महाभारत लिखा। आम आदमी को निराशा से आशा का स्वर सुनाने के लिए बलराम दास, जगन्नाथ दास, यशोवन्त दास, शिशु अनन्त

दास तथा अच्युतानन्द दास का आविर्भाव हुआ। इन पाँच कवियों को 'पंचसखा' के नाम से जाना जाता है। काशी के पंडितों द्वारा लोककवि तुलसी की जो अवहेलना हुई थी वैसी ही उपेक्षा का शिकार पंचसखाओं को उत्कलीय पंडितों के द्वारा होना पड़ा था। तत्ववेत्ता ब्राह्मणों को उचित जवाब देने के लिए सारलादास ने अपने को 'शूद्रमुनि' के रूप में परिचित कराया। इसका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि पंचसखा युग में कवि बलराम दास के लिए भी यह पदवी के रूप में स्वीकृत हो गया। जो वेदान्त केवल ब्राह्मण पंडितों की ज्ञान-तिजोरी में आबद्ध था उसे बलराम दास ने जाति, वर्ण, धर्म के भेद-भाव को भुलाकर आम आदमी के लिए उन्मुक्त कर दिया। सीधी-सादी लोकभाषा में वेदान्त-सार को सर्वजनादृत किया। ब्राह्मणों ने लोक कवि का विरोध किया, उसकी उपेक्षा भी की। कवि ने उस उपेक्षा की पीड़ादायिनी अभिव्यक्ति की है—

"तू सोमनाथ शूद्रसुत
तू कहलाता वेदान्त चरित।"

अछूतों से ब्राह्मणों तक वेदान्त तत्व की शिक्षा देने के उद्देश्य से उन्होंने वेदान्त की व्याख्या की और श्रीमद्भगवद्गीता का ओड़िया अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप संस्कृत मर्मज्ञ ब्राह्मण आग बबूले हो गए। कवि को तमाम यातनाएँ भोगनी पड़ीं। इतना ही नहीं उनकी कुमन्त्रणा से बलरामदास को राजकीय क्रोध का शिकार भी होना पड़ा। कारावरण तक सहना पड़ा।

मुक्तिमंडप पर विराजमान हो पंडित भगवत गीता की व्याख्या कर रहे थे। वहाँ बलराम दास उपस्थित थे। नतीजा यह हुआ कि उन्हें अत्यन्त कटु तथा अपमान सूचक भाषा में भर्त्सना सुननी पड़ी—

"भगवान ने जो आदित्य को सुनाया था
उस गीता को सुना तुमने शूद्रमुनि होकर
श्वान हो तरु अन्न भोगा तूने पामर
प्रभु को बताएँगे पकड़ो इसे सत्वर।
शूद्र होकर जब करे ब्रह्मकर्म संज्ञा
दण्ड हो उचित उसे जो आपकी आज्ञा।"

अपने सन्त कवि कबीर की तरह बलराम भी कहाँ झुकने वाले थे। ब्राह्मणों ने उन्हें पुरी के राजा गजपति के सामने पहुँचाया तो बलराम दास ने निर्विकार होकर उत्तर दिया—

छिपाए रखे हैं ये जिस ब्रह्मज्ञान को
बखान करेगी उसे कल दासी बावली

—सब्जीवाली

देव-पूजन के समय दासी बावली ने वेदान्त तत्व की चर्चा की। उसे सुनकर ब्राह्मण

अभिभूत हो उठे। तत्पश्चात् बलरामदास की व्याख्या सुनकर सभी स्तब्ध रह गए। महाराज को अपनी गलती का अहसास हुआ।

"जाति-पाँति पूछे नाहिं कोई, हरि का भजे सो हरि का होई" को आगे बढ़ाते हुए बलरामदास ने साधारण जनता को भक्ति ही नहीं ज्ञान का अधिकारी भी बनाया। पीड़ितों और उपेक्षितों को समाज में बराबरी का दर्जा प्रदान करते हेतु वे प्रयासरत थे। बलरामदास का लक्ष्मी पुराण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। उन्होंने उक्त पुराण के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छूत-अछूत न तो भगवान मानता है और न ही कोई तत्त्ववेत्ता यथार्थ ज्ञानी। हृदय की पवित्रता, भक्ति की प्रगाढ़ता के माध्यम से श्रीया चांडालिनी ने समाज का सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। सोलहवीं शताब्दी के कवि ने स्पृश्य-अस्पृश्यता के निराकरण का कितना बड़ा प्रयास किया था। जाति-भेद को तुच्छ माना था। पुनः ब्राह्मणों के वर्चस्व, झूठे दंभ को अस्वीकार किया था। निस्संदेह उनका काव्य-सृजन उच्च कोटि का था। परन्तु उनके साहित्य में विद्यमान सामाजिक कुविचार (Social Injustice) दलितों की पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति, पीड़ितों को उनका न्यायोचित अधिकार प्रदान करने का प्रयास आदि कवि के साहित्य को युगोपयोगी बनाते हैं। बलराम दास की भक्ति भावना, साहित्य उत्कर्षता उन्हें महान् काव्यकार बनाती है। परन्तु उनका भोगा हुआ यथार्थ और उसकी समर्थ अभिव्यंजना उन्हें समाज विप्लवी के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

पंचसखाओं की रचनाएँ जनता के लिए भी, इन रचनाओं का उद्देश्य जनमन का संस्कार, समानता का आधार एवं अपने अधिकार की प्राप्ति था। इसमें पंचसखायुगीन साहित्य की मूल्यवत्ता थी। धर्म केवल पारलौकिक नहीं जीवन की समस्याओं का भी परिचायक था अर्थात् वहाँ मानव जीवन की पीड़ा तथा समस्याओं के लिए पर्याप्त अवकाश था। भक्त कवियों एवं जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवीयता पर आधारित था। भक्त कवि संन्यासी नहीं थे। गार्हस्थ्य जीवन के अंग थे। विराट जन-समुदाय अंगी था तो भक्त कवि उसके अंग थे।

पंचसखाओं में जगन्नाथ दास का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओड़िया भागवत के रचयिता जगन्नाथ दास ने ओड़िया तथा संस्कृत में लगभग बीस से भी अधिक ग्रंथों की रचना की है। मानक ओड़िया में रचित उनके 'भागवत' में कवि ने 'नवाक्षरी' छन्द का प्रयोग किया है। संस्कृत पंडितों ने जगन्नाथ दास के भागवत को 'तेली भागवत' कहकर उसका घोर विरोध किया। परन्तु उत्कलीय जन समुदाय ने जगन्नाथदास के 'भागवत' का महत्त्व समझा। ओड़िशा में इसे पवित्र ग्रंथ मानकर जीवन के अंग स्वरूप स्वीकारा गया। प्रत्येक गाँव में 'भगवत गादी' (भगवत गद्दी) की स्थापना हुई। नित्य पारायण हुआ। धर्मप्राण उत्कलीय आज भी इसकी पूजा करते हैं। ब्राह्मण हो या चांडाल सभी इस ग्रंथ की चर्चा करते हैं। सरल-सहज एवं सुबोध्य भाषा में रचित भागवत सभी स्तर के लोगों की जबान पर चढ़ा रहता है। जैसा कि एतद्पूर्व उल्लेख हो चुका है कि चैतन्य के उत्कल में आगमन के परिणामस्वरूप उत्कलीय

प्रभु! दे दो मुक्ति जगत् को।''

कवि ने प्रतिरोध का जो स्वर उठाया वह निराला है—

''आँसू नहीं रक्त की बूँदें टपकती हैं।
और मैं उन्हें अपने हाथों से पोछ लेता हूँ।''

भीमाभोई ने अपने जीवन में अनेक सामाजिक प्रताड़नाओं का सामना किया था। इन अनुभूति के माध्यम से उन्होंने 'मानव की चिन्ता' को व्यापक धरातल प्रदान किया। अपमान, निरादर एवं शत्रुता को सहन करने के पश्चात् उन्हें अपनी शक्ति के रूप में ग्रहण किया। कबीर की भाँति उन्होंने अन्याय का विरोध किया, मूर्तिपूजा का खंडन किया एवं एक ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। इनकी क्रांति का आधार जीवन की पाठशाला के कडुवे अनुभव हैं। यह क्रांति किसी जाति विशेष के प्रति नहीं है। सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था में नए प्रतिमान स्थापित करने के लिए है। उनकी क्रान्तिकारिता में सर्वाधिक प्रेम मनुष्य के प्रति है। मराठी के प्रसिद्ध दलित रचनाकार की मानें तो दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु मानव है और वह मानव के इर्द-गिर्द घूमता है। इस दृष्टि से भीमाभोई की रचनाएँ ओड़िया दलित साहित्य की प्रथम रश्मियों के समान है।

ओड़िया साहित्य के आदिकाल से भीमाभोई तक वर्ण-व्यवस्था और भारतीय समाज-व्यवस्था के अमानविक उत्पीड़न का चित्रण मिलता है। नीची जाति के लोगों पर यह यातना चक्र जारी रहता है। कवियों ने उस निर्यातन की अभिव्यक्ति की है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में अम्बेडकर एवं ज्योतिबा फूले के व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर ओड़िया के सवर्ण तथा असवर्ण रचनाकारों ने सामन्ती मूल्यों और सामाजिक पराधीनता के विरोध का स्वर उठाया है। समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था में कर्म के स्थान पर जन्म निश्चित हो गया। वर्ण-व्यवस्था ने जाति को जन्म दिया। फलस्वरूप, संकीर्णता आ गई। सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति बन गया। निम्न वर्ग 'दलित' के रूप में उभरा। दलितों के अन्तर्गत अनुसूचित और आदिवासियों के साथ भूमिहीन मज़दूरों, गरीब किसानों, अधिकार विहीन, गुलाम वर्ग, हरिजन आदि आते हैं। ओड़िया साहित्य में उपर्युक्त वर्ग के अलावा डिप्रेस्ड क्लास, शिड्यूल्ड कास्ट, हरिजन आदि को भी शामिल किया जाता है।

'उड़िया दलित साहित्य : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' शीर्षक आलेख में बजरंग बिहारी तिवारी ने विचित्रानन्द नायक के काव्य-संग्रह अनिवीणा (1973) में प्रयुक्त 'दलित' को उस भावबोध का बताया है जो वास्तव में 'पैंथर' के कार्यकर्ता के अनुरूप था। सामाजिक एवं आर्थिक प्रताड़नाओं से प्रताड़ित लोगों की मुक्ति की प्रबल कामना एवं उनके विद्रोह को रूपायित करते हुए विचित्रानन्द ने लिखा है—

''वे अब क्रुद्ध हो उठे हैं
बहिष्कृत झुग्गियों और झोंपड़ियों के निवासी
वे जाग उठे हैं

जाग उठे हैं अपनी सामूहिक निद्रा से
अपनी दाल रोटी के लिए
वे जला डालेंगे इस व्यवस्था को''

—कथादेश, दिसम्बर, 2005, पृ. 53

दलितों को मुक्ति चाहिए—केवल अपनी दशा से नहीं, अत्याचार से नहीं बल्कि अमानवीय त्रासदी से भी। इस मुक्ति की छटपटाहट को विचित्रानन्द ने अपनी कविता का मूल स्वर बनाया है। एक ऐसे समाज की संरचना करना उनकी कविता का प्रतिपाद्य है, जहाँ जाति, वर्ग का कोई बन्धन न हो। मनुष्य मात्र समान हो। कवि कथमपि निराश नहीं है। प्रबल आस्थावान है। इसलिए उसकी उद्घोषणा है—

लाल-लाल सूरज मेरे सिर पर पहले से ही लिखने लगा है
मुक्ति-मुक्ति हर एक के लिए

बजरंग बिहारी तिवारी ने ओड़िया दलित कविता के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है—''उड़िया में दलित लेखन भले ही अभी प्रारम्भिक अवस्था से गुजर रहा हो लेकिन उसमें स्वर वैविध्य विचारधारात्मक दृढ़ता तथा संवेदनात्मक प्रौढ़ता उल्लेखनीय रूप से उपस्थित है। लेखन की मुख्य विधा अभी कविता है लेकिन इसमें आत्माभिव्यक्ति के अनेक रूप-रंग, इतिहास का अवगाहन, अतीत-निर्माण और स्वत्व का रेखांकन सब सम्भव हो रहे हैं।'' (स्वत्व की खोज : उड़िया दलित कविता, कथादेश, पृ. 59, फरवरी, 2006)। विचित्रानंद की परम्परा को विविधवर्णी इन्द्रधनुष रूप प्रदान करने वालों में वासुदेव सुनानी, भारत माझी, जगन्नाथ मल्लिक, संजय कुमार बाघ, सीताकान्त महापात्र, आशुतोष परिड़ा, रवीन्द्र पल्लाइ, कुमारमणि तन्ती, केदार मिश्र, दुर्गाप्रसाद पण्डा, मनोज मेहेर, अंजुबाला जेना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी दलित साहित्य की तरह उपर्युक्त सूची में भी दलित एवं गैर-दलित रचनाकार हैं। यहाँ 'दलित रचनाकार' के विवाद को आगे बढ़ाना कथमपि उद्देश्य नहीं। दलितों की पीड़ाओं एवं समस्याओं, उनकी निर्यातना एवं शोषण, उनके विद्रोह एवं आक्रोश को जो रचनाकार सम्पूर्ण संवेदना के साथ अभिव्यक्त कर पाने की सामर्थ्य रखता है उसे 'दलित रचनाकार' कहा जा सकता है।

ओड़िया दलित साहित्यकारों के लिए धार्मिक विश्वासों से मुक्ति ही मूल लक्ष्य नहीं रह गया है। आर्थिक एवं सांस्कृतिक पराभवों से मुक्ति पाने के लिए भी प्रतिबद्धता पाई जाती है। अम्बेडकर के सपनों को पूरा करने के लिए रचनाकार कटिबद्ध दिखाई पड़ते हैं। हालाँकि गैर-दलित लेखक, दलित लेखकों के लेखन की आलोचना करते नहीं थकते हैं कि इनके लेखन में शिल्प नहीं, सौन्दर्य नहीं है, शैली नहीं है, गाली-गलौज की भाषा है, परन्तु शिल्प, सौन्दर्य एवं शैली मात्र से साहित्य नहीं बनता है। उसमें भावों की भी प्रधानता होती है। दलित साहित्य में भावों का अभाव नहीं, प्राचुर्य है।

स्त्री भी दलित है, सर्वहारा वर्ग की है। सदियों से वर्ण और वर्ग समाज उसका शोषण करता रहा है। पत्नी के रूप में, बहू के रूप में, पुत्री के रूप में उसका शोषण तो होता है। परन्तु माता के रूप में उसकी इच्छाओं को कुचलते हुए पुत्र उसका बँटवारा कर लेते हैं। वह नीरव रहती है। परन्तु उसकी नीरवता में छिपी तीव्र पीड़ा को मौनरूप में अभिव्यक्त करते हुए मनोज मेहर कहते हैं—

"माँ का बँटवारा हो गया उस दिन
छोटू ने लिया सात महीना
और मैंने पाँच-महीना।"

—**पक्षी**

ओड़िया दलित साहित्य धर्म पर आधारित परम्पराओं, रूढ़ियों तथा विचारों के प्रति विद्रोह करता है। इसमें प्राचीन सड़ी-गली परम्पराओं, जर्जर होती मान्यताओं और गलित विचारों से विद्रोह करते हुए नवीन परम्पराओं को स्थापित करने का उद्देश्य निहित रहता है। भारत माझी ने अपनी कविता 'हम कुछ लोग' में लिखा है—

"भरी सभा के बीच
ईश्वर के गले में
जूतों की माला पहना दी।"

—**मूर्तिकार, पृ. 36**

धर्मवीर भारती ने 'टूटा हुआ पहिया' शीर्षक कविता में अवहेलितों का समर्थन करते हुए उनके लिखे जाने वाले नए इतिहास की सम्भावना व्यक्त की थी। भरत माझी ने आशा व्यक्त की है कि कुछ लोगों में यदि शोषित होने की, पीड़ित होने की चेतना जन्मे वह धीरे-धीरे सर्वत्र प्रसारित होगी। कुछ ही लोगों के काम से नया इतिहास बन सकता है—

"न शत्रु न सामन्त
न विद्रोही प्रजा, न बिग़ड़ैल सेना।
इतिहास के दाय-भाग से
जगें हम कुछ ही लोग
तो रचेंगे नया इतिहास।"

—**मूर्तिकार, पृ. 37**

वासुदेव सुनानी ओड़िया दलित साहित्य के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। महुल वन (महुल बण) शीर्षक काव्य-संकलन में कवि का एक ओर विद्रोह प्रतिकार है तो दूसरी ओर मंगल एवं शुभ के लिए बेचैनी। इस बेचैनी से पीड़ित होकर वह नकार या निषेध को नहीं अपनाता बल्कि एक नव-निर्माण के लिए भी कटिबद्ध दिखाई पड़ता है। परन्तु इसे ज्ञात है कि जब उत्कल धर्म पर आधारित परम्पराओं, रूढ़ियों एवं विचारों से मुक्ति नहीं मिलती है तब तक सब एवं खासकर धर्म के ध्वजाधारी शूद्र, अस्पृश्य , अछूत, दलित नाम देते रहेंगे। ऐसी स्थिति में कवि विद्रोह को अपना साथी बना लेता है और अभिव्यक्त करता है—

"कभी-कभी
ऐसा एक जघन्य अपराध
करने को इच्छा होती है कि
गला दबाकर, मिट्टी खोदकर
पाताल में दफना देता
अस्पृश्यता के शव।"

—**कथादेश, दिसम्बर, 05, पृ. 57**

आक्रोश, संघर्ष का सन्देश, संवेदनशीलता और स्पष्टवादिता वासुदेव सुनानी की कविताओं की मूल विशेषताएँ हैं। कवि ने अपने आस-पास के परिवेश से कथ्य ग्रहण किया है। उसे निजी अनुभव के आधार पर काव्य-रूप प्रदान किया है। कवि ने जो जीवन जिया और भोगा है और अपने परिवेश में घटित हो रही अमानवीयता को बड़ी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त किया है। जातिवादी समाज-संरचना से मर्माहत हो वासुदेव लिखते हैं—

"आओ
हम नंगे होंगे
निकाल लेंगे
ब्रह्मा की देह से
महापात्र के कोट
उतार लेंगे
विष्णु की कमर से
महान्ति के सूट।"

—**कथादेश, दिसम्बर, 05, पृ. 54**

आज एक ओर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी दिन दूनी रात चौगुनी विकास कर रहे हैं। मनुष्य चन्द्रलोक में पहुँच चुका है। महाकाश में भूमि क्रय करने का सपना पालने लगा है। परन्तु दूसरी ओर वह अपनी रूढ़ियों, अन्धविश्वासों से भी जकड़ता रहा है। यह जकड़न बड़ी मजबूत होती जा रही है। अछूतों एवं सफाई कामगारों के प्रति हमारी मानसिकता पूरी तरह रूढ़ हो चुकी है। कहीं न कहीं उन्हें सिर पर मैला ढोने के लिए विवश करने में अपनी भूमिका निभाते आ रहे हैं। इस सन्दर्भ में बाबा साहब अंबेडकर का कथन स्मरणीय है—"उच्च कुल का आदमी मरते मर जाएगा किन्तु ऐसा गन्दा काम वो हरगिज नहीं करेगा। तो तुम्हारे पास क्या मजबूरी है? सबसे पहले अपने इस गन्दे पेशे से छुटकारा पाओं तभी तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल होगा।" भंगियों के सामाजिक सम्मान एवं समानता की प्रतिबद्धता को 'शरीर शुद्धि' शीर्षक कविता में वासुदेव ने जाहिर किया है। साथ ही उन्होंने ब्राह्मणवाद, पूँजीपति वर्ग की मानसिकता और उनके खोखलेपन पर तीव्र प्रहार किया है। एक ओर आक्रोश है तो दूसरी ओर भंगी जाति के गन्दे पेशे, जीवन स्तर, अशिक्षा, विवशता आदि की मार्मिक अभिव्यक्ति भी है। 'शरीर शुद्धि' एक लम्बी

कविता है जिसमें उपर्युक्त भाव अबाध गति से प्रवाहमान है। कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

"एक बार
सिर्फ एक बार दबाकर एक हड्डी जीभ के नीचे
मिट्टी को जकड़ कर कहो
किस गंगा में धोऊँ
अपनी गुह से सनी देह
कितने मन तुलसी के पत्ते चाहिए
शरीर-शुद्धि के लिए
सुगन्धित होगी मेरी काया
कितने मन चन्दन के प्रलेप से?"

दलित को सामाजिक अस्वीकार का दंश बार-बार झेलना पड़ता है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस भंगी की एक दिन की अनुपस्थिति से पूरा परिवेश दुर्गन्धमय हो जाता है, उस भंगी के प्रति लोगों की मानसिकता जराजीर्ण दशा में बनी हुई है। सदियों से उपेक्षा, घृणा का शिकार बने रहे दलित की मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त है—

"मैं जहाँ खड़ा होता हूँ
दुर्गन्ध से भर जाता है परिवेश
छी: छी: से फूल जाती है नाक
थू थू से गर्दन
ना नहीं से आँखें।"

वास्तव में अस्मिता की खोज करती है वासुदेव की कविताएँ। इस अस्मिता की खोज से कवि की कविताएँ लड़ती हैं, जूझती हैं, संघर्ष करती हैं, हार जाती हैं, पर पराजयबोध का शिकार नहीं होतीं। नए सिरे से संघर्ष करने के लिए कवि-सत्ता को प्रेरित करती हैं। आशावादी स्वर से भरपूर कवि नव-निर्माण के लिए संकल्प लेता है और बनाना चाहता है एक घर जो सबसे अलग हो, निराला हो—

"लेकिन मैं बनाना चाहता हूँ
एक नया घर/टाँगना चाहता हूँ
अति परिचित तस्वीर का तैलचित्र
जैसे 'पोड़ा माझी' का टीन का बक्सा
देशी शराब की देकची सिर पर
ईंट बनाने के लिए
बस में चढ़ने का दृश्य

लगाऊँगा मेरी खाट के सामने
उसकी नाम पट्टिका के साथ।"

सामन्तवादी समाज-व्यवस्था हो या पूँजीवादी शासन-व्यवस्था सर्वदा मेहनतकश मजदूरों के श्रम का शोषण हुआ है। जीवन के आधारभूत तत्व भी उन्हें मयस्सर नहीं होते जबकि वे कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात मेहनत करते रहते हैं। वासुदेव एक दलित मजदूर की व्यथा-कथा को 'हजु ताण्डी की श्रमकथा' शीर्षक कविता में प्रस्तुत करते हैं। काम की खोज में निकले हजु ताण्डी के परिवार की आत्मकथा है—

"मेरा नाम है हजु ताण्डी
फटी-चिथड़ी कन्था
पिचकी देकची शराब की
मेरी लंगड़ घरवाली
और तीन बच्चों के साथ
दर-दर भटक रहे हैं
काम की खोज में
मजदूर हूँ मैं
मेहनत स्वीकारो
मेरे मेहरबान।"

—महुल वन, पृ. 56

भारत में दहेज की समस्या न केवल सवर्णों के लिए विकराल रूप धारण कर चुकी है, बल्कि यह दलितों में भी फैल चुकी है। पढ़-लिख लेने के बाद दलित भी वैसे ही करते हैं, जो सवर्ण करते हैं। एक शिक्षित दलित निर्धन पिता दहेज में गाड़ी देने के लिए असमर्थ है तो वह अपनी पुत्री के हाथ पीले नहीं कर पाता। दलित इस दहेज रूपी राक्षस से अछूते थे। परन्तु शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ धन का लोभ इन्हें भी कवलित कर रहा है। भरत माझी कहते हैं—

"लड़का ओवरसियर था
नौकरी थी माछकुंड में
क्या कहना
पड़ोसियों ने मन्त्र फूँक दिया
रवि निआल गाड़ी कहाँ से देगा।
वे उल्टे पाँव लौट गए
कोई खबर नहीं
महीनों से।"

—रवि निआल, बी.ए., बी.एड., मूर्तिकार, पृ. 22

दलित साहित्य की आवश्यकता है। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है। भारतीय साहित्य के विकास में इसका योगदान अविस्मरणीय है। परन्तु कुछ दलित साहित्यकारों की मान्यता है कि दलितों के द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। किसी गैर-दलित द्वारा लिखे गए दलित सम्बन्धी साहित्य को दलित साहित्य मानने को तैयार नहीं हो सकता। वे भोगे हुए नहीं होते ओढ़े हुए होते हैं। गैर दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य, दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य—ऐसे कितने विभाजनों से साहित्य को बाँटा जाएगा, पता नहीं। साहित्य तो जोड़ता है, तोड़ता नहीं। मिलाता है, अलगाता नहीं। खैर, ओड़िया दलित साहित्य के सन्दर्भ में केदार मिश्र, सीताकान्त महापात्र, दुर्गाप्रसाद पंडा, पिताम्बर तराई, मनोज मेहेर, आशुतोष परिड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश ओड़िया के वरिष्ठ कवि हैं। इनके काव्य-जगत् में दलित-संवेदना से भरपूर अनेक कविताएँ उपलब्ध हैं।

केदार मिश्र की कविता 'सम्पादक को पत्र' में आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार का चित्रण है। उन्हें मिट्टी में गाड़कर कल-कारखाने बनाए जाने का उल्लेख है। साथ ही, सम्पादक के कर्त्तव्य-च्युत होने पर व्यंग्य है। अन्त में एक दलित का सवाल है—

शिकायत नहीं है आपसे
सिर्फ एक सवाल है
क्या आप जवाब देना चाहेंगे?
एक बार जाँच कर देखिएगा
आपकी कलम में स्याही है
अथवा हमारा खून?

—निसान, पृ. 58

देश तथा विदेश में ख्यातिप्राप्त ओड़िया कवि सीताकान्त महापात्र ने अनेक काव्य-संकलन लिखे हैं। ढेर सारे पुरस्कारों से भी पुरस्कृत हैं। लगभग चार दशकों से भी अधिक समय से वे साहित्य सृजन में निमग्न हैं। ओड़िया दलित चेतना के सन्दर्भ में उनकी दो कविताओं का जिक्र करना आवश्यक प्रतीत होता है। पहली कविता है 'भिखारी बच्चे की मृत्यु' और दूसरी 'भिखारी बच्चे का पोस्टमॉर्टम'। पहली कविता में कवि ने अपने भिखारी बच्चे के प्रति जो संवेदना प्रकट की है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

"सुबह वह रहा नहीं
छोटी चिड़िया की तरह उसका शरीर ठंडा पड़ गया
पब्लिक पार्क की मुलायम घास के ऊपर
उसे ऐसा कोमल स्पर्श न मिला था
ता-उम्र कभी भी किसी से।"

भारत में अनाहार मृत्यु कोई नई बात नहीं है। मृत्यु का कारण जानने के लिए सरकार पोस्टमॉर्टम का आदेश देती है। शासक दल दावा करता है कि मृत्यु [illegible] है, भोजन के अभाव से नहीं। विपक्ष का दावा कुछ और ही रहता है। भिखारी बच्चे के पोस्टमॉर्टम के दौरान कवि सीताकान्त का आग्रह है—

"क्या मिलेगा तुम्हें काटकर पेट उसका
जो औरों में होता है वही तो मिलेगा इसमें
छुरा की धार पर चमकेंगे
मुलायम चाँद-सी कुछ आशाएँ, कुछ सपने
करोड़ों सूर्यों की तरह अनेक हाहाकार!"

कवि दुर्गाप्रसाद पण्डा ने दलित जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। दलित को हाट-बाजार, श्मशान, मैदान, सर्वत्र सवर्णों का अत्याचार सहना पड़ता है। दलित अपने जीवन के बारे में कहता है—

अब जीवन का केवल इतना अर्थ है
कि इन्तजार है इसे भयंकर दंश का।

—निआँ भितरे हात, पृ. 10

अनादि अनन्त काल से मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर में, तीर्थ-स्थानों में, मक्का-मदीना में ईश्वर की खोज जारी है। दुर्गाप्रसाद को लगता है कि ईश्वर लापता हो गया है, जाने कब से। उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार के बारे में कौन बताये? दुर्गाप्रसाद के ईश्वर का स्वरूप देखें—

"अपनी तमाम अपारगताओं के बीच
लिए हाथ में रीता टीन का डिब्बा
कहीं भीख माँग रहा होगा ईश्वर
क्या पता पिछली रात के सांप्रदायिक दंगे में
अब तक सनाख्त न हो सकी लाश
स्वयं ईश्वर की न हो।"

—निआँ भितरे हात, पृ. 26

ओड़िशा में दलित अत्यन्त सहज, सरल जीवन-यापन करते हैं। उनके भोलेपन को ऊँची जाति तथा उच्च वर्ग के लोगों ने भुनाया है। कभी उनकी अशिक्षा का लाभ उठाया है तो कभी उनकी निर्धनता का। उनके काग़जातों में, सरकारी फाइलों में, विज्ञापनों में प्रदर्शित किया जाता है कि दलितों की स्थिति में सुधार हुआ है। वे सुख-शान्ति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कवि आशुतोष परिड़ा ने इस आशय की एक कविता लिखी है "हम मजे में हैं (आमे भल अछु)"। इस 'मजे' में कितना शाणित व्यंग्य है!

CALL NO. ACC

"नफरत तो क्या
हमने ईर्ष्या करना भी नहीं सीखा
आज तक तुमसे
आलिंगन तो दूर रहा
हम तुम्हें छू तक नहीं सके आज तक
हमने तुम्हें दिया है अन्न व आयु
दिया है अँगूठा का विश्वास
दिया है मांसपेशियों का पसीना
अपना इहकाल और परकाल।"

बदले में दलित जीवन को विषमय बनाया गया है। अफीम के रस से डुबोया गया है। उपवास और उपहास भेंट में मिले हैं। परन्तु पराजित होकर भी जिजीविषा को बनाए रखना, फिर से संघर्ष के लिए शक्ति-संचय करना, नई ज़मीन तैयार करना ही ओड़िया दलित कवियों का संकल्प है—

समाप्त नहीं हुआ है युद्ध
अकेले पराजय से
तैयार है ज़मीन
कहीं न कहीं फिर से लड़ने के लिए।

हाल ही में आशुतोष परिड़ा 'चांडाल' काव्य की भूमिका में लिखा है—"पृथ्वी के सर्वत्र, हर कोने में अनगिनत लोग हैं जो घृणा, हिंसा, लांछन और शोषण से जर्जरित हैं। क्या कविता उनके ज्वलंत सत्य को प्रकट कर पाती है? उनकी अन्तरात्मा को उघाड़कर रख सकती है? उनके लिए कुछ सपने और सम्भावनाएँ उन्मुक्त कर पाती हैं?"

ओड़िया दलित रचनाकारों में एक महत्त्वपूर्ण नाम है, पीताम्बर तराई। 'शूद्रक का श्लोक', 'सइरात शतक' और 'इतर' काव्य संकलन ओड़िशा में ही नहीं अन्य प्रांतों में भी चर्चित हुए हैं। केवट जाति के मछली पकड़ कर पेट पालना और कविता लिखना दो विपरीतधर्मी काम हो सकते हैं। पीताम्बर की मान्यता है कि कवि की केवल एक ही जाति होती है। ब्राह्मण, शूद्र, दलित जो भी कविता लिखे वह कवि होता है। उसका परिचय जाति से नहीं उसकी कविता से प्राप्त होता है। इसलिए जाति, वर्ग के भेद-भाव को त्यागना ज़रूरी है। अम्बेडकर के चिन्तन और जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर ओड़िया दलित रचनाकारों ने ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था की जड़ें खोदने का प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने दलित-पिछड़े वर्ग को नई चेतना और ऊर्जा से ओत-प्रोत करने का सफल प्रयत्न किया है।

□□□

P.M.S. MAHAVIDYALAYA
CALL NO.
ACC. NO 12843
DATE/BILL 27 25.01.2016